JUNIOR FELLOWSHIP FOR 2013-2014

THEATRE

NATYA SANGEET KA ADHAR LOKOKKTI,

MUHAWARE AUR KAHAWTE

2 YEAR

FINAL PROJECT REPORT

FILE NO. CCRT/27050/03/2015 /15578

NAME AND ADDRESS – GANESH KUMAR

AT-CHAKIYA POST- B.T.P.S.

PS- BARAUNI DIST.- BEGUSARAI

STATE – BIHAR PIN-851116

MAIL ID- ganeshgaurav.nsd@gmail.com

MOBILE NO.- 8603561615, 9868486315

SPEED POST

गिरीश जोशी
निदेशक (तदर्थ)
Girish Joshi
Director (*Ad-hoc*)

सांस्कृतिक स्रोत एवं प्रशिक्षण केन्द्र
Centre for Cultural Resources and Training
(Under the aegis of Ministry of Culture, Govt. of India)

CCRT /27050/03/2015/15878
December 17, 2015

Dear श्री गणेश कुमार जी,

You are kindly aware that the Ministry of Culture, Government of India has recently transferred the **Scheme for Award of Fellowship to Outstanding Persons in the Field of Culture** to Centre for Cultural Resources and Training (CCRT) for its implementation.

I am happy to inform you that the Expert Committee constituted by the Ministry of Culture, Government of India based on the proposal submitted by you has selected you for award of **Junior Fellowship for 2013-2014** in the field of **Theatre,** Sub-Field **Theatre** for a period of two years **with effect from 01-01-2016**. The value of the Fellowship will be **Rs. 10,000/- per month** and the same will be released in 4 six-monthly instalments.

The Centre for Cultural Resources and Training will require a six-monthly Progress Report as per the schedule overleaf of page 2. The first and the second instalments of Fellowship will be released on the receipt of 1st and 2nd six monthly Progress Report, respectively. The third instalment will be released after review of progress of your 1st and 2nd six-monthly reports by an Expert Committee and after the receipt of your 3rd six-monthly progress report. On completion of the Project, one bound copy of 2 years' complete Project document will have to be sent to Centre for Cultural Resources and Training (CCRT). The fourth instalment will be released after the 4th six-monthly progress report and the complete Project document are received and evaluated by the designated Expert Committee. The last date for submission of the complete Project Report is **31-01- 2018**. However, in exceptional circumstances extension of time by maximum three months will be permissible without any additional financial liability to the Government/MoC/CCRT.

The six-monthly reports should contain details of the work done by you during the relevant period of six months, and in addition it should also contain evidence of your work, which may be in the form of Photographs, Press Reviews, Survey work, etc.

It may please be noted that the Government of India/Ministry of Culture reserves the right to discontinue the grant of the Fellowship at any time if and when after review/enquiries, etc. Ministry of Culture comes to the conclusion that you have either abandoned the Project work or are not pursuing this work seriously.

You are also required to send the **proof of leave** from your organization if you are regularly working in a Government /State Department/University/Establishment/Institute, etc. The Fellowship is liable to be cancelled in case the **proof of leave** is not sent.

15ए, सेक्टर-7, द्वारका, नयी दिल्ली-110075 भारत दूरभाष : **011-25074256; 25309389;** 25309300 एक्स.303, फैक्स : 91-11-25088637
15A, Sector-7, Dwarka, New Delhi-110075 INDIA Phones : **011- 25074256; 25309389;** 25309300 Extn.303, Fax : 91-11-25088637
e-mail : dir.ccrt@nic.in website : www.ccrtindia.gov.in
इस कार्यालय में हिन्दी में प्राप्त पत्रों का स्वागत है।
इस कार्यालय में हर दिन भारतीय राष्ट्रीय भाषाओं का दिन है।

मेरे कार्य स्वरूप के चार अध्याय

प्रथम अध्याय :- नाट्य संगीत, लोक नाट्य संगीत के उत्पती उद्भव, इतिहास एवं विकास के साथ - साथ नाटको एवं जन मानस पर इसके प्रभाव एवं समाजिक महत्व से संबंधित।

द्वितीय अध्याय - लोकोक्ति मुहावरे एवं कहावतो का उत्पत्ति, उद्भव, इतिहास एवं स्थानीय क्षेत्रो के भौगोलिक संस्कृति एवं भाषाओं के साथ विकास एवं सामजिक जीवन पर इसके महत्व एवं प्रभाव के संबंध में।

तृतीय अध्याय - विभिन्न प्रदेशो के ग्रामीण एवं कस्वाई नाट्य मंडलियों, लोक नाट्य मंडलियो के रंग संगीत एवं वहाँ प्रचलित लोकोक्ति कहावते एवं मुहावरों के साथ आम लोगो का संबंध संस्कार प्रारंपरिक त्योहार, उत्सवों पर इसके प्रभाव से संबंधित।

चतुर्थ अध्याय - संहार ! मेरे पूरे कार्यो का निचोर (प्रतिफल) नाट्य संगीत एवं लोकोक्ति कहावतें एवं मुहावरों का संकलन विभिन्न प्रदेशो से एकत्रित रंग संगीत, लोक नाट्य एवं वहाँ की परंपरायें विभिन्न नाट्य मंडलियों के रंग संगीत साथ किये गये कार्यशाला को एवं लोकोक्ति कहावतें मुहावरों के द्वारा तैयार गीत एवं स्क्रीप्त से संबंधित।

नाट्य संगीत का आधार लोकोक्ति, मुहावरे और कहावतें

नाट्य संगीत-नाट्य सगीत की उत्पति कब और कैसे हुई ये तो पता नही है परन्तु जब से नाटक का जन्म हुआ होगा तब से ही नाट्य संगीत भी अपना आकार लिया होगा, चाहे वो संस्कृत नाट्क हो, लोकनाटक, पारसी नाटक या कोई आधुनिक नाटक, नाट्य संगीत, क्या है इसकी उत्पति या इतिहास क्या है। और नाटक में इसके प्रयोग की सार्थकता और इसका सामाजिक महत्व क्या है।

इसी प्रकार

लोकोक्ति, मुहावरे और कहावतें

लोकोक्ति कहावतें और मुहावरों का भी एक अपना इतिहास होगा सबसे पहले कब से ये प्रचलन में आया जनमानस पर इसका प्रभाव, क्षेत्रों एवं भौगोलिक द्रश्टिकोण के अनुसार इसका सामाजिक आधार या महत्व के बारे में जानकारी प्राप्त करना, कहा जाता है कि लोकिक्तियाँ मुहावरे एवं कहावतें आम जनमानस द्वारा स्थानीय बोलियाँ में हर दिन की परिस्थितयाँ एवं सन्दर्भ से उपजे वैसे पद एवं वाक्य होते हैं जो किसी खास समूह उम्र वर्ग या क्षेत्रिय दायरे में प्रयोग किया जाता है। इसके स्थान विशेष के भूगोल, संस्कृति, भाषाओं का मिश्रण इत्यादि की झलक मिलती है। ये किसी ना किसी व्यक्ति के अनुभव पर आधारित होते है। तथा भाषा सुदृढ़, गतिशील और रूचिकर बनती है, प्राचीन काल से ही ज्ञान को मौखिक रूप एक पीढ़ी से दूसरे पीढ़ी में स्थानांतरित करने का माध्यम था साथ ही जल्दी ज्ञान आत्मसात हो जाये इसीलिए ये गायन शैली या गीतों के रूप में होता था, इसके प्रयोग से रोचकता के साथ हास्य व्यंग की उत्पतिया होती है। साथ साथ भाषा का सौंदर्य और सार्थकता भी बढ़ जाती है।

जैसे -

रामनाम में आलसी, भोजन में होशियार

हाथी चले बाजार, कुत्ता भौंके हजार

नाच न जाने आँगन टेढ़ा

अंधा सिपाही कानी घोड़ी, विधी ने खूब मिलाई जोड़ी।

लोकोक्ति, मुहावरे और कहावतें

प्राचीन काल से ही ये हमारे जीवन शैली का अभिन्न हिस्सा था लेकिन जैसे-जैसे हम विकास के कीर्त्तिमान स्थापित करते वैसे-वैसे हमारी जीवन शैली आधुनिकता के आडंबर में मशीनी और तकनीकों का गुलाम होता जा रहा है। मोबाईल, मॉल, कम्प्यूटर, इन्टरनेट आदि ने मानव जीवन और लोक शैली को बुरी तरह प्रभावित किया है। लोक संगीत की जगह कानफाडू डी० जे० पर बजते दुअर्थी अश्लील गीत-संगीत हमारे युवा पीढ़ीयों को दिगभ्रमित कर रही है। हमारे लोक-व्यवहार, पर्व-त्योहार भी बाजार वाद और मशीनी करण का शिकार होता जा रहा है। ऐसे में विलुप्त होते जा रहे लोकिक्ति मुहावरे और कहावतों को संग्रहित कर उसमें छुपे नाटकीय तत्व और नाट्य संगीत के द्वारा पुनः जनता के जनमानस का हिस्सा बनाना ही हमारा उद्धेश्य है। साथ ही नाट्य संगीत में नाट्कीय रोचकता लाने में इसका प्रयोग नाट्य संगीत को मजबुती भी प्रदान कर सकता है।

प्रथम अध्याय

नाट्य संगीत, लोक नाट्य संगीत की उत्पत्ती उद्‌भव, इतिहास एवं विकास के साथ–साथ नाटकों एवं जनमानस पर इसके प्रभाव एवं सामाजिक महत्त्व ।

नाट्य शास्त्र :–

नाटकों के संबंध में शास्त्रीय जानकारी को नाट्य शास्त्र कहते हैं । इस जानकारी का सबसे पुराना ग्रंथ भी नाट्य शास्त्र के नाम से जाना जाता है जिसके रचियता भरत मुनि थे । भरत मुनि का काल 400 ईसा पूर्व माना जाता हैं । संगीत, नाटक और अभिनय के संपूर्ण ग्रंथ के रूप में भरत मुनि के नाट्य शास्त्र का आज भी बहुत सम्मान है। उनका मानना हैं कि नाट्य शास्त्र में केवल नाट्य रचना के नियमों का आकलन नहीं होता बल्कि अभिनेता रंगमंच और प्रेक्षक इन तीनों तत्वों की पूर्ति के साधनों का विवेख्न होता है। 37 अध्यायों में भरत मुनि ने रंगमंच, अभिनेता, अभिनय, नृत्यगीतवाद, दर्शक, दशरूपक और रस निष्पत्ति से संबंधित सभी तथ्यों का विवेचन किया है। भरत के नाट्य शास्त्र के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है। कि नाटक की सफलता केवल लेखक की प्रतिभा पर आधारित नहीं होती बल्कि विभिन्न कलाओं और कलाकारों के सम्यक के सहयोग से ही होती है। भरतनाट्यम आदि भारतीय शास्त्रीय नृत्य नाट्य शास्त्र से प्रेरित हैं। नाट्य शास्त्र (भारतीय) नाट्य और नृत्य, दृश्य काव्य के ये दो भेद हैं। नट – नटी द्वारा किसी अवस्था विशेष की अनुकृति नाट्य है। 'नाट्यते अभिनयत्वेन रूप्यते – इति नाट्यम् ।

संगीत :–

सुव्यवस्थित ध्वनि, जो रस की सृष्टि करे, संगीत कहलाती हैं। गायन, वादन और नृत्य ये तीनों ही संगीत है। संगीत नाम इन तीनों के एक साथ व्यवहार से पड़ा हैं । गाना, बजाना और नाचना प्रायः इतने पुराने हैं, जितना पुराना आदमी है। बजाने और बाजे की कला आदमी ने कुछ बाद में खोजी–सीखी हो, पर गाने और नाचने का आरंभ तो न केवल हजारों बल्कि लाखों वर्ष पहले उसने कर लिया होगा, इसमें संदेह नही।

गान मानव के लिए प्रायः उतना ही स्वाभाविक हैं जितना भाषण। कब से मनुष्य ने गाना प्रारंभ किया ये बतलाना उतना ही कठिन है जितना कि कब से उसने बोलना प्रारंभ किया। परन्तु बहुत काल बित जाने के बाद उसके गान ने व्यवस्थित रूपधारण किया। जब स्वर और लय व्यवस्थित रूप धारण करते हैं तब एक कला का प्रादुर्भाव होता है और इस कला को संगीत, म्यूजिक या मौसिकी कहते है। संगीत मानवीय लय एवं तालबद्ध अभिव्यक्ति है। भारतीय संगीत अपनी मधुरता, लयबद्धता तथा विविधता के लिए जाना जाता हैं। वर्तमान भारतीय संगीत जो रूप दृष्टिगत होता है, वह आधुनिक युग की प्रस्तुती नहीं है, बल्कि यह भारतीय इतिहास के प्रारंभ के साथ ही जुड़ा हुआ हैं वैदिक काल में ही भारतीय संगीत के बीज पड़ चुके थे। सामवेद उन वैदिक ऋचाओं का संग्रह मात्र है, जो गेय है। प्राचीन काल से ही ईश्वर अराधना हेतु भजनों के प्रयोग हेतु परंपरा रही है। यहाँ तक की यज्ञादि के अवसर पर भी समूह ज्ञान होते थे । ध्यान देने की बात है कि प्राचीन काल की अन्य कलाओं के समान ही भारतीय कला भी धर्म से

प्रभावित थी। वास्तव में भारतीय संगीत की उत्पत्ति धार्मिक प्रेरणा से हुई है। परंतु धीरे–धीरे धर्म को तोड़कर लौकिक जीवन से संबंधित होती गई और इसी के साथ नृत्य कला, वाद्य तथा गीतों के नये–नये रूपों का आविष्कार होता गया । कालांतर में नाट्य भी संगीत का हिस्सा बन गया । समय के साथ संगीत की विभिन्न धाराएँ विकसित होती गई, नये–नये राग, नये–नये वाद्ययंत्र और नये–नये कलाकार उत्पन्न होते गये । भारतीय संगीत जगत अनेक महान विभूतियों के योगदान के परिणामस्वरूप ही इतना विशाल रूपधारण कर सका है।

संगीत क्या है ?

इस प्रश्न का उत्तर भारतीय संगीतकारों ने विविध रूप से देने का प्रयास किया है। 'संगीत रत्नाकर' के अनुसार गीत वाद्य तथा नृत्य त्रयं संगीतमच्छ्यते :– अर्थात गीत, वाद्य और नृत्य– इन तीनों का सामुच्य ही संगीत है। परंतु भारतीय संगीत का अध्ययन करने पर यह आभास होता है कि इन तीनों में गीत की ही प्रधानता रही है। तथा वाद्य और

नृत्य गीत के अनुगामी रहे हैं। एक अन्य परिभाषा के अनुसार सम्यक प्रकारेण यद गीयते तत्संगीतम्– अर्थात सम्यक प्रकार से जिसे गाया जा सके वही संगीत है। अन्य शब्दों में स्वर, ताल, शुद्ध, आचरण, हाव–भाव और, शुद्ध मुद्रा के विषय ही संगीत हैं। वास्तव में स्वर और लय ही संगीत का अर्थात गीत, वाद्य और नृत्य का आधार है।

संगीत की परिभाषा :–

संगीत वह ललित कला है, जिसमें स्वर और लय के द्वारा हम अपने भावों को प्रकट करते हैं । ललित कला की श्रेणी में 5 कलाएँ आती हैं संगीत, कविता, चित्रकला, मूर्तिकला और वास्तुकला में मानव भावनाओं को व्यक्त तो करते हैं परन्तु प्रत्येक में उसका माध्यम बदला करता है। अगर रंग, पेन्सिल, कागज आदि के द्वारा भावों को व्यक्त करते हैं तो चित्रकला की रचना होती है। इसी प्रकार यदि स्वर–लय के द्वारा अपने भावों को प्रकट करते हैं तो संगीत की रचना होती है।

किवदन्तीः–

ललित कलाओं में संगीत को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। इस प्रकार संगीत समस्त कलाओं में सर्वश्रेष्ठ हुआ। संगीत का सम्बन्ध देवी देवताओं से भी जोड़ा गया है। किवदन्ती हैं कि सर्वप्रथम बह्मा ने सरस्वती देवी को और सरस्वती ने नारद जी को संगीत की शिक्षा दी। इसके बाद नारद ने भरत को और भरत ने नाट्य शास्त्र द्वारा जन साधारण में संगीत का प्रचार किया । संगीत की उत्पत्ति में इस प्रकार की मुख्य सात कीवदन्तियां प्रसिद्ध है। प्राचीन काल में इन किवदन्तियों का महत्व शायद रहा भी हो आज के वैज्ञानिक युग में इनका विशेष महत्व नहीं हैं

उत्पत्ति एवं उद्भवः–

संगीत की उत्पति –

भारतीय संगीत की उत्पति वेदों से मानी जाती है । वेदों का मूल मंत्र है – ओऽम । ओऽम शब्द में तीन अक्षर अ, उ तथा म सम्मिलित हैं, जो क्रमशः

ब्रह्मा अर्थात सृष्टि कर्ता, विष्णु अर्थात जगत पालक और महेश अर्थात संहारक की शक्तियों के द्योतक हैं। इन तीनों अक्षरों को
ऋगवेद, सामवेद तथा यर्जुवेद से लिया गया है। संगीत के साथ स्वर षडज (सा), ऋषभ (रे), गांधार (ग) आदि वास्तव में ओऽम या ओंकार के ही अंर्तविभाग्य हैं । साथ ही स्वर तथा शब्द की उत्पति भी ओऽम के गर्भ से ही हुई है। मुख से उच्चारित शब्द ही संगीत में नाद का रूपधारण कर लेता हैं। इस प्रकार ओऽम को ही संगीत का जगत माना जाता है। इसलिए कहा जाता है कि जो साधक ओऽम की साधना करने में समर्थ होता है, वही संगीत को यथार्थ रूप में ग्रहण कर सकता है। यदि दार्शनिक दृष्टि से गुढार्थ निकाला जाय तो इसका तात्पर्य यही है कि ओउम अर्थात सम्पूर्ण सृष्टि का एक अंश हमारी आत्मा में निहित है और संगीत उसी आत्मा की आवाज है। अतः संगीत की उत्पति हृदयगत भावों में ही मानी जाती है।

संगीत का आदिम श्रोत प्रकृतिक ध्वनियाँ ही हैं । प्राक् संगीत–युग में मनुष्य के प्रकृति की ध्वनियों ओर उनकी विशिष्ट लय को समझने की कोशिश की । हर तरह की प्राकृतिक ध्वनियाँ संगीत का आधार नहीं हो सकती अर्थात भाव पेदा करने वाली ध्वनियों को परखकर संगीत का आधार बनाने के साथ–साथ उन्हें लय में बाँधने का प्रयास किया गया होगा । प्रकृति की वे ध्वनियां जिन्होंने मनुष्य के मन मस्तिष्क को स्पर्श कर उलस्सित किया, वही सभयता के विकास के साथ संगीत का साधन बनी। हालाकि विचारको में भिन्न भिन्न मत हैं। दार्शनिकों ने नाद के चार भागों परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी में से मध्यमा को संगीतोपयोगी स्वर का आधार माना। डार्विन ने कहा कि पशु रति के समय मधुर ध्वनि करते हैं। मनुष्य ने जब इस प्रकार की ध्वनियों का अनुकरण आरंभ किया तो संगीत

का उद्भव हुआ । कार्ल स्टम्फ ने भाषा उत्पति के बाद मनुष्य द्वारा ध्वनि की एकतारता को स्वर की उत्पति माना । 19 वीं सदी के उत्तरार्ध में भारतेन्दु हरशिचन्द्र ने कहा कि संगीत की उत्पति मानवीय संवेदना के साथ हुई । उन्होने संगीत को गाने, बजाने, बताने और नाचने का सामुच्चय बतलाया ।

प्राच्य शास्त्रों में संगीत की उत्पत्ति को लेकर अनेक रोचक कथाएँ हैं। देवराज इंद्र की सभा में गायक , वादक व नर्तक हुआ करते थे। गन्धर्व गाते थे, अप्सराएँ नृत्य करतीं थीं। और किन्नर
वाद्य बजाते थे। गन्धर्व–कला ने गीत सबसे प्रधान रहा हैं। यही कारण है कि गीत हो चाहे वाद्य, सबका नाम संगीत पड़ गया।
'संगीत' शब्द 'सम्+ग्र' धातु से बना है।
प्रमाणित तौर पर सबसे प्राचीन सभ्यताओं के अवशेष, मूर्तियों, मुद्राओं, भित्तिचित्रों से जाहीर होता है कि हजारों वर्ष पूर्व लोग संगीत से परिचित थे। देव–देवी को संगीत का आदि प्रेरक शिर्फ हमारे ही देश में नहीं माना जाता, यूरोप में भी यह विश्वास रहा है।

भारत में संगीत की सर्वप्रथम व्युत्पत्ति हजारों वर्ष पूर्व वैदिक काल में हुई मानी जाती है। वेद अपौरूषेय है, इसलिए संगीत की उत्पति को किसी एक व्यक्ति से नहीं जोड़ा जा सकता । वेदों की ऋचाओं का अनुसरण श्रुतियां करती हैं। इन श्रुतियों को योग्यता के याथ प्रस्तुत करने से ही संगीत की रचना हुई । 'सामवेद' के मंत्रों को बड़ी सहजता से गाया जाता हैं। आठवीं शताब्दी में रचित 'छन्दोग्य उपनिषद' में शंख, वीणा और वंशी के साथ वेद की ऋचाओं को गान के रूप में प्रस्तुत करने का वर्णन मिलता है।

तीसरी शताब्दी में – नृत्य, नाट्य, वाद्य, गायन की उच्च कोटि की प्रस्तुति भरत मुनि द्वारा विरचित 'नाट्यशास्त्र' में मिलती है। मध्यकाल में संगीत के वाद्य यंत्रों का खूब विकास हुआ । उस समय सितार, सारंगी, तबला का प्रयोग खूब बढ़ा और रागो को भक्ति एवं उपासना के गीतों से जोड़ा गया । तानसेन, नानक, कबीर, विद्यापति, तैदेव, चंडीदास, मीराबाई इत्यादि ने गायकी के साथ वादन का उत्तम संयोग प्रस्तुत किया । रवीन्द्र संगीत जिसके जन्म दाता रवीन्द्रनाथ ठाकुर थे । आधुनिक काल की उन्नायकों में रायगढ़ के राजा चक्रधर सिंह का बड़ा नाम है। उन्होंने मध्य भारत में संगीत के विकास और स्थापना हेतु प्रसंसनीय कार्य किया । और गायक, नर्तक तथा वादकों की एक लंबी श्रृंखला तैयार की । इन्हीं दिनों महाराष्ट्र ने विष्णु दिगंबर पलुस्कर तथा विष्णु नारायण भारतखंडे का अभ्युदय हुआ। इन दोनों महानुभावों ने संगीत को सीधे सामान्य लोगों से जोड़ा संगीत के विद्यालय स्थापित किये और समारोहपूर्वक संगीत का उत्सव मनाना शुरू किया ।

इतिहास :–

युद्ध उत्सव और प्रार्थना या भजन के समय मानव गाने बजाने का उपयोग करता चला आया है। संसार में सभी जातियों में बॉसुरी इत्यादि फूॅक के वाद्य (सुषिर), कुछ तार या तॉत के वाद्य (तत), कुछ चमड़े से मढ़े हुए वाद्य (अवनद्ध या आनद्ध) कुछ ठोंककर बजाने मे वाद्य (घन) मिलते है।

ऐसा जान पड़ता है कि भारत में भरत के समय तक गान को पहले केवल गीत कहते थे। वाद्य में जहाँ गीत नहीं होता था केवल दाड़ा, दिड़दिड़ जैसे

शुष्क अक्षर होते थे, वहॉ उसे निर्गीत या बहिर्गीत कहते थे और नृत्य अथवा नृत्य की एक अलग कला थी। किंतु धीरे–धीरे गान, वाद्य और नृत्य तीनों को संगीत मे अंतर्भाव हो गया – गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगतमच्यते।

भारत में लोक संगीत का इतिहास अत्यंत प्राचीन है। बहुत से विद्वानों का तो यहां तक मानता है कि शास्त्रीय संगीत की उत्पति लोक संगीत से हुई है। इसका प्रमाण यह है कि लोक संगीत का प्रभाव संगीत पर स्पष्टतः परिलक्षित होना है। लोक संगीत लोक गीतों की आत्मा है भारतीय लोक जीवन का सुंदरम् प्रतिबिम्ब लोक गीत और लोक संगीत में दिखाई पड़ता है। लोक गीत सरल, सुंदर अनुभूतिमय और संगीतमय होते है। संगीत के बिना लोक जीवन प्राण रहित शरीर के समान है। लोक जीवन का स्वास्थ्य उनके आनंद का रहस्य लोक गीतों और उनके संगीत में अंतर्निहित है। लोक संगीत का कोई निर्धारित लिखित विधाना नहीं है। कोई विशेष नियम भी नहीं बनाए गए है। किंतु लोक गीतों और लोक संगीत की एक विशेष पद्धति अवश्य होती है जो लोग इस विधि से परिचित नही होते है, वे इसकी पद्धति को समझ नहीं सकते।

भारत का लोक संगीत ग्रामीणांचल, वनाचंल और गिरिअंचलों में पसरा पड़ा है जितने विविध क्षेत्र उससे भी अधिक तरह के नृत्य, उतने ही तरह के गीत और वाद्य तंत्र होते है। इन नृत्यों गीतों और वाद्यों में उस अचंल की स्पष्ट विशेषतास परिलक्षित होती है। क्षेत्रवार ये संगीत की विधाएं व्यवसाय, मौसम (त्रतु), जाति, संस्कार तथा वर्ग के अनुरूप भिन्न–भिन्न होती है।

भारत के लोक गीतों में शास्त्रीय गीतों – ध्रुपद, खयाल, तराना, टप्पा ठुमरी गजल इत्यादि की तरह कसा हुआ विधान नही होता, अपितु लोक जीवन की

तरह उनमें उन्मुक्तता और स्वभागत स्वतंत्रता होती है। इन गीतों में मात्रा, छंद, काव्य शास्त्र का विघान भी लागू नहीं होता। गायक स्वर में उतार–चढ़ाव तथा वाद्य तंत्रो की मनोरम ध्वनि के बीच इस प्रकार के गीतों की कर्मी को छिपा लेते है कि उन्हें पकड़ पाना मुश्किल होता है।

भारतीय संगीत का इतिहास –

प्रागैतिहासिक काल से ही भारत में संगीत की समृद्ध परम्परा रही है। गिने–चुने देशों में ही संगीत की इतनी पुरानी एवं इतनी समृद्ध परम्परा पायी जाती है। माना जाता है कि संगीत का प्रारम्भ सिंधु धाटी की सभ्यता के काल में हुआ हालांकि इस दावे के एकमात्र साक्ष्य है। उस समय की एक नृत्य बाला की मुद्रा में कास्य मूर्ति और नृत्य नाटक और संगीत के देवता रूद्र अथवा शिव की पूजा का प्रचलन।

सिंधु धाटी की सभ्यता के पतन के पश्चात् वैदिक संगीत की अवस्था का प्रारम्भ हुआ जिसमें संगीत की शैली में भजनों और मंत्रो के उच्चारण से ईश्वर की पूजा और अर्चना की जाती थी। इसके अतिरिक्त दो भारतीय महाकाव्यों रामायण और महाभारत की रचना में संगीत का मुख्य प्रभाव रहा। भारतीय संगीत के इतिहास के महान संगीतकारों जैसे कि कालिदास, तानसेन अमीर खुसरो आदि ने भारतीय संगीत की उन्नति में बहुत योगदान किया है। जिसकी कीर्ति को पंडित रवि शंकर, भीमसेन गुरूराज जोशी पंडित जसराज, प्रभा अत्रे सुल्तान खान आदि जैसे संगीत प्रेमियों ने आज के युग में भी कायम रखा हुआ है। भारतीय संगीत में यह माना गया है कि संगीत के आदि प्रेरक शिव और सरस्वती।

भारतवर्ष भर के मंदिरो, स्तूपों और गुफाओं में बने चित्र, खुदी हुई मूतियाँ प्राचीन काल में नृत्य के विकास का साक्ष्य प्रस्तुत करते है। सांची और भरहुत के द्वारा पर बनी अप्सराएँ, बाध, अजंता और एलोरा की दीवारों पर बने चित्रों की रूपसियाँ चिदम्बरम् खजुराहो और कोणार्क के मंदिरो में उत्कीर्ण नायिकाऍ तथा हेलविड तथा बेलूर के मंदिरो के दीवारों पर बनी नृत्य करती आकृतियाँ नृत्य शैली का प्राचीन रूप सिद्ध करती है इन आकृतियों को देखकर नृत्य की भाव मंगिमाओं का बारीकी से अध्ययन किया जा सकता है।

संगीत एक त्रिवेणी है, जिसमें गीत वाद्य तथा नृत्य तीनों का समावेश है इन तीनों का एक दूसरे के साथ अभिन्न सम्बन्ध रहा है संगीत रत्नाकर में शारंगदेव लिखते है – गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते।

संगीत भारतीय समाज का अभिन्न अंग है। आज से लगभग 3000 वर्ष पूर्व रचे गए वेदो को संगीत का मूल स्त्रोत माना जाताा है। भारत में सास्कृतिक काल से लेकर आधुनकि युग तक आते–आते संगीत की शैली और पद्धति में जबरदस्त परिवर्तन हुआ है। भारत संगीत के इतिहास के महान संगीतकारों जैसे कि कालिदास, तानसेन, अमीर खुसरो आदि ने भारतीय संगीत की उन्नति में बहुत योगदान दिया है।

विश्व संगीत का इतिहास संगीत के इतिहास से हम क्या समझते है ? केवल धटनाओं का समावेश करना ही इतिहास नहीं कहलाता, बल्कि उन धटनाओं के परस्पर सम्बन्धों का समन्वय करना भी अत्यन्त आवययक है अर्थात् कब, कहॉ और कैसे उन धटनाओं का विकास हुआ उन

सबका यथार्थ वर्णन और कालक्रम की दृष्टि से उपलब्ध सभी तत्वों और तथ्यों का प्रामाणिक रूप में समावेश यह कभी कुछ इतिहासकार का कर्तव्य है वस्तुत संगीत का भी विकास हुआ है इसलिए संगीत कला के इतिहास की व्याख्यास के लिए उस समूचे काल को कई भागो में बॉटकर देखना होगा। इन्ही सब बातोंं को ध्यान में रखते हुए लेखक ने विश्वसंगीत के इतिहास को भी कालक्रम से प्राचीन मध्य एवं आधुनिक मुख्य रूप से तीन भागों में – विभाजित कर विवेचित किया है तथा विभिन्न संस्कृतियो और शासनकाल के आधार पर उसे उपभागों में वॉटकर देखा है इस क्रम में लेखक ने भारतीय संगीत को एक जाति की असाधारण मनीषा के इतिहास के रूप में रेखकिंत करते हुए विश्वसंगीत के इतिहास में उसके अमूल्य अवदान का मूल्यांकन किया है।

संगीतः– विकास के साथ जनमानस और सामाजिक जीवन पर प्रभाव–

प्राचीन काल में भारतीय संगीत के दो रूप प्रचलित हुए –

1. मार्गी 2. देशी ।

कलांतर में मार्गी संगीत लुप्त होता गया। साथ ही देशी संगीत दो रूपों में विकसित हुए –(i) शास्त्रीय संगीत (ii)लोक संगीत।

(i)शास्त्रीय संगीत– शास्त्रों पर आधारित तथा विद्वानों व कलाकारों के अध्ययन व साधना का प्रतिफल था । यह अत्यंत नियमबद्ध तथा श्रेष्ठ संगीत था ।

(ii)लोक संगीत– काल और स्थान के अनुरूप प्रकृति के स्वछंद वातावरण में स्वाभाविक रूप में पलता हुआ विकसित होता रहा अतः यह अधिक विविधतापूर्ण तथा हल्का – फूल्का व चित्ताकर्षक है।

उत्तर भारत के लोकगीतों को– खेल के गीत, कृषि के गीत, संस्कार के गीत, जाति के गीत, क्षेत्र के गीत, ऋतु के गीत, बालगीत, देवी–देवता के गीत, लोकगाथा के गीत इत्यादि विभागों में बांटा जा सकता हैं । ये गीत प्रायः सभी बालियों, अंगीका, मैथिलि, मगही, भोजपूरी, अवधी, बूंदेली, बधेली, छत्तीसगढ़ी, ब्रज, कन्नौज, मेवाड़ी, मालवी, निमाड़ी, कौरवी, हरियाणी, गढवाली, कुमायुनी इत्यादि में समान रूप से गाया जाता है।

भारत एक कृषि प्रधान देश है। देश की सत्तर प्रतिशत से अधिक जनसंख्या प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कृषि कार्य में लगी रहती हैं। खेती संबंधी कार्यो को करते समय समूह में इन गीतों को गाया जाता है। इनमें रोपनी के गीत, सोहनी के गीत, निर्वाही के गीत, कहनी के गीत, पितनी के गीत, मल्हौर, बरसाती इत्यादि प्रमुख हैं।

संस्कार संबंधी गीतों में जन्म के गीत, मुंडन के गीत , जनेउ के गीत, तिलक के गीत, विवाह के गीत, विदाई के गीत, मृत्यु के गीत इत्यादि उल्लेखनीय हैं। ऋतु संबंधी – रसिया, कजली, फगुआ, चैता, बारहमासा, बरसाती, इन्डोला गीत तथा जातिगत गीत – गडेरिया गीत, नउआझाकर गीत, धोबी गीत, चमार गीत, दुसाध गीत, अहिर गीत, प्रमुख है।

बाल गीतों में लोरी, ओक्का – बोक्का, पालना गीत, गुट्टी, गुल्ली–डंडा गीत गाए जाते है, तो देवी–देवता गीतों में भजन, कीर्तन, पचरा, शीतलादेवी, मुंबा देवी, माता भवानी गीत हैं।

लोक गाथा के अन्तर्गत बिरहा, आल्हा, वीर गाथा काव्य, घटना प्रधान, कथात्मक गीत आते हैं। वनवासी गीतों में कर्मा गीत, सुआ गीत, ठंडा गीत, ददरिया, बैगा, गोंडिया, माझी, बड़िया, सैला, अटारी, हिंगला, नैल गुगाली, इत्यादि नृत्य गीत प्रमुखता से गाये जाते हैं।

इन विविधता भरे गीतों को संगीत की सात स्वर लहरीयों में गाया जाता है। इनके साथ ही नटका, बन्ना, गाली, प्रेम परख गीत भी गाये जाते है। इसी तरह पश्चिम तथा दक्षिण भारत में सभी गीत गाये जाते हैं। इन क्षेत्रों में गीतों के स्वरूप में थोड़ा बहुत अंतर अवश्य होता हैं। किंतु उनकी प्रकृति एवं विशेषता समान होती है।

भारत का लोक जीवन उत्सवों एवं तिथी त्योहारों से भरा है। जन्म से लेकर मृत्यु तक उत्सव मनाये जाते है। लगभग हरेक महीनें में कोई ना कोई त्योहार होता है। इसलिए यह उत्सव प्रिय समाज हर पल प्रसन्नता के क्षणों में जीता है। अपनी उत्सव प्रीयता को वह गीत संगीत के माध्यम से अभिव्यक्त करता हैं। इसलिए हर काल खंड में इन गीतों , वाद्य यंत्रों तथा लोक नाट्यों का महत्व हमारे जीवन में बना रहेगा। और समय तथा आवश्कता के अनुसार इसमें परिवर्तन तथा परिशोधन होता रहेगा ।

भगवान शिव हैं ब्रह्मांड में संगीत के उत्पति के जनक। वैदिक युग में संगीत समाज में स्थान बना चुका था । सबसे प्राचीन ग्रंथ ऋगवेद में आर्यो के अमोद –प्रमोद का मुख्य साधन संगीत को बताया गया है। अनेक वाद्यों का आविष्कार भी ऋगवेद के समय में बताया जाता है। 'यजुर्वेद' में संगीत को अनेक लोंगों को आजीविका का साधन बताया गया, फिर गान

प्रधान वेद 'सामवेद' आया, जिसे संगीत का मूल ग्रंथ माना गया। उत्तर वेदिक काल के रामायाण ग्रंथ में भेरी, दुदम्भी, वीणा, मृदंग व घड़ा आदि व भवरों के गान का वर्णन मिलता है। तो महाभारत में कृष्ण की बांसूरी के जादुई प्रभाव से सभी प्रभावित होते है। अज्ञात वास के दौरान अर्जुन ने उतरा को संगीत नृत्य सिखाने हेतु बृहन्नला का रूपधारण किया ।

हमारी संस्कृति का एक स्तंभ भारतीय शास्त्रीय संगीत, जीवन को संवारने और सुरुचीपूर्ण ढंग से जीने की कला है। यह आधार है हर तरह के संगीत का साथ ही ऐसी गरिमामयी धरोहर है। जिससे लोक और लोकप्रिय संगीत की अनेक धाराएँ निकलती है। जो न सिर्फ हमारे तीज त्योहारों में राग रंग भरती है। बल्कि हमारे विभिन्न संस्कारों और अवसरों में भी उल्लासमय बनाते हुए अनोखी रौनक प्रदान करती है।

नाट्य संगीत की मुख्य विशेषता और उद्देश्य :–

संगीत नाटक के लिए अनिवार्य नहीं वैकल्पिक है। भरत मुनि से लेकर आज के नाट्य चिंतकों ने नाट्य प्रस्तति के लिए आवश्यक रूप से संगीत की अनुसंसा की है। संगीत तथा नृत्य नाट्य प्रस्तुति के अभिन्न अंग के रूप में प्राचीन काल से ही रहा है। नाटक में संगीत की प्रस्तुति जिस रूप में होती है उसे नाट्य संगीत कहा जाता है। नाटकीय भाव या यथार्थ को सघन प्रभावशाली बनाने के लिए संगीत का संयोजन किया जाता है उसे ही नाट्य संगीत माना गया है।

लोक नाट्य, परंपरा एवं पारंपरिक कलाएँ :–

भारतीय समाज में पारंपरकिता का विशेष स्थान है। परंपरा एक सहज प्रवाह है। निश्चय ही पारंपरिक कलाएँ समाज की जिजीविषा, संकल्पना, भावना, संवेदना तथा ऐतिहासिकता को अभिव्यक्त करती है। नाटक अपने–आप में संपूर्ण विधा हैं, जिसमें अभिनय, संवाद, कविता, संगीत इत्यादि एक साथ उपस्थित रहते हैं। परंपरा में नाटक एक कला की तरह हैं। सभी पारंपरिक भारतीय नाट्य शैलियों में गायन की प्रमुखता है। यह जातीय संवेदना का प्रकटीकरण है। जीवन के सघन अनुभवों में से जो सहज लय उत्पन्न होती है वही अंततः लोकनाटक बन जाती है। जिसमें दुख, सुख, हताशा, घृणा, प्रेम आदि मानवीय प्रसंग आते है। भारत के विभिन्न क्षेत्रों में तीज त्योहार, मेले, समारोह, अनुष्ठान पुजा, अर्चना आदि होते रहते है। उन अवसरों पर ये प्रस्तुतियां भी होती है। इसलिए इनमें जनता का सामाजिक दृष्टिकोण प्रकट होता है। पारंपरिक नाट्य में लोकरूचि के अलावा क्लासिक तत्व भी उपस्थित होते है।

विभिन्न पारंपरिक नाट्यों में प्रवेश नृत्य, कथ्थक नृत्य और दृश्य नृत्य की प्रस्तुति किसी न किसी रूप में होती है। दृश्य नृत्य का श्रेष्ठ विद्यापत नाच नामक नाट्य शैली में भी मिलता है। इसकी महत्वता इसी प्रकार के कलात्मक सौंदर्य में नही, अपितु नाट्य में है। तथा नृत्य के दृश्य पक्ष की स्थापना करने में है। कथन नृत्य पारंपरिक नाट्य का आधार है। इसका अच्छा उपयोग गुजरात के भवई में भी देखने को मिलता है। इसमें पटाक्षेप की क्षिप्र अथवा मंथर गति से कथन की पुष्टि होती है।

पारंपरिक नाट्य में परंपरागत निर्देशों तथा तुरंत उत्पन्न मति का मिश्रण होता है। लेकिन समसामयिक प्रसंगों में अभिनेता या अभिनेत्री अपनी आवश्यकता से ही संवाद की सृष्टि कर लेता है। भिखारी ठाकुर की विदेशिया में ये दोनों स्तर पर कार्य करते है।

नाट्य परंपरा पर औद्योगिक सभ्यता, औद्योगिकरण तथा शहरीकरण का असर भी पड़ा है। इसकी सामाजिक सांस्कृतिक परताल करनी चाहिए । कानपुर शहर नौटंकी का प्रमुख केन्द्र बन गया था । नर्तकों, अभिनेताओं, गायकों, इत्यादि ने इस स्थिति का उपयोग कर स्थानीय रूप को प्रमुखता से उभार पारंपरिक नाट्य की विशिष्ठता उसकी सहजता है। आखीर क्या बात है कि शताब्दियों से पारंपरिक नाट्य जीवित रहने तथा सादगी बनाये रखने में समर्थ सिद्ध हुए हैं। वस्तुतः पारंपरिक नाट्य शैलियों का विकास ऐसी स्थानीय या क्षेत्रीय विशिष्टता के आधार पर हुआ जो सामाजिक, आर्थिक, स्तर बद्धता की सामाओं से बंधी हुई नहीं थी। पारंपरिक कलाओं ने शास्त्रीय कलाओं को प्रभावित किया साथ ही शास्त्रीय कलाओं ने पारंपरिक कलाओं को प्रभावित किया । यह एक सांस्कृतिक अनंत यात्रा है।

विविध पारंपरिक नाट्य शैलियां :–

भांडपाथर स्वांग नौटंकी रासलीला भवाई जात्रा माच भाओना तमाशा

दशावतार कृष्णाअट्टम मुडियेट्टु कृटियाट्टम यक्षगान

लोक संस्कृति :–

लोक संस्कृति के तीन प्रमुख स्तंभ है।

1.लोकनाट्य 2. लोकगीत 3. लोकनृत्य

लोक संस्कृति की समस्त विद्याओं में लोक संगीत, नाटकों, ख्यालों तथा नृत्यों एवं नाट्यों का अपना ही महत्वपूर्ण स्थान है। इन विद्याओं में लोक संस्कृति, जीवन और लोक मनोरंजन का अपना ही अनुपम रूप निहारने को मिलता है। इन विधाओं का नहीं कोई जन्म दाता है। और न ही कोई शास्त्र और प्रणेता रहा है। इनके अंतर्गत जो नाच, गीत, नाट्य, संगीत इत्यादि हैं, उनके रचियता भी अज्ञात है। सामुदायिक वातावरण और परंपरागत अभ्यास में इन कलाओं को जीवित रखा है। मौखिक स्मरण और लौकिक रूढियों में ढली यह कला आज भी जीवित है।

इन सांस्कृतिक विद्याओं को लोक शब्द से जोड़ा गया है। इसलिए नहीं कि इनका संबंध केवल ग्रामीण जीवन या आदिवासी जीवन से है। चाहे गांव हो या शहर सभी स्थानों में लोक गीतों, लोकनृत्यों, ख्यालों व नाट्यों का प्रमुख स्थान है। पर्वों एवं धार्मिक तथा समाजिक उत्सवों और त्योहारों में ऐसे अनेक गीत तथा

नृत्य और मनोरंजन का साधन है। जो ग्रामीण जीवन और कस्बों और नगरों में सामान्य रूप से मिलते हैं। सामाजिक जीवन और संस्कृति के प्रतीकों के बीच कोई अंतर नहीं हैं और न ही इनके मध्य कोई सीमा रेखा खींची जा सकती है। इनकी अभिव्यक्ति मनोवैज्ञानिक बौधिक तथा धार्मिक प्रवृतियों में सर्वत्र मिलती है। जिनका रसास्वादन संपूर्ण जनता करती है। लोक का व्यक्त रूप मानव है। अतएव लोक संस्कृति व्यावहारिक जीवन का परिष्कृत रूप ठें

The History Of Theatrical Music

Formative period

What is thought to be the oldest document of musical history depicts a man wearing an animal mask, manipulating what is possibly a form of musical bow, and dancing in the wake of a herd of reindeer. This is a prehistoric cave painting dating from the Stone Age, discovered at Ariège in France. Masks are tangible signs of that transfer of personality on which every form of theatre is based and in which song and dance have participated since the dawn of communication and animated ritual. Music in dramatic entertainment reached early peaks of development in European and Oriental cultures in, respectively, the ancient Greece of Homer and, some centuries later, the Chinese classical drama.

Descriptive evidence of the earliest Greek theatre indicates that music, mostly sung by a chorus, was essential but not continuous. At drama festivals the poet wrote his own music (as well as being actor, producer, and choreographer), probably based on some kind of traditional repeated formula. Later Greek theatre, after the fall of Athens (404 BC), initiated both the repertory system and a category of musicians trained more highly than the populace. Amateur and professional became separated for the first time, and increasing sophistication brought about its counterpart in popular pantomime expressed in song and dance, often satirical or bawdy in character.

The Roman musical theatre derived directly from the Greek, ousting a short-lived native form with Etruscan actors who also danced to pipe music. Latin versions of the Greek theatre with music were supplemented by a Roman variant of the pantomime as a dramatic solo dance with chorus and orchestra. It implied some prior knowledge on the audience’s part of the subject and the dance vocabulary. Amphitheatre shows of gladiatorial contests were regularly accompanied by music, sometimes involving up to 100 horn blowers and 200 pipers, as well as such extra devices as water organs.

About the time the Roman theatre flourished, an Oriental equivalent emerged in China from ritual ceremonies that came to be repeated for their

entertainment value. The puppet theatre was a significant intermediate stage in this process, and the forms evolved into different styles of entertainment for courtier and commoner. Strings, flute, and handbells accompanied the songs and dances in upper-class entertainments; a form of mouth organ replaced the bells in shows for the common people. By the time of the Sung dynasty (AD 960–1279), from which the earliest written music survives, a type of musical variety theatre, the *tzarjiuh*, was widely popular.

The Chinese classical opera tradition has already been mentioned as a modern form of musical theatre. It first developed during the Yüan dynasty (1206–1368) and reached its peak of style and classical form in the Ming period (1368–1644). Its evolution was accompanied by a less formal counterpart based on the dramatization of folk songs linked by a thin narrative plot (*Chueichang*). The full-scale opera and its regional variants remained the most significant form of Oriental musical theatre until the modern post-revolutionary times, but throughout the Far East the indigenous forms of music have always played a prominent part in theatrical presentations.

In Europe the vestiges of Greco-Roman culture were submerged by the early Christian Church. By the 6th century the church had suppressed drama and adapted pagan rituals to its own liturgical purposes. A small flame of musical theatre was left burning only in the form of religious ceremonial (for example, in the mass). Festive religious celebrations eventually expanded into the liturgical music drama that slowly developed from about the 10th century. This brought in its wake the equally religious “mysteries” and miracle plays of the Middle Ages in Europe, which were performed in the vernacular instead of in Latin, had a strong musical element, and, in due course, developed a secularcounterpart.

In a pattern that was to repeat itself after the birth of opera 200 years later, the secular theatre in the Middle Ages established itself either as lighthearted interludes in serious moralities or as deliberate parody tolerated by the church as a safety valve to consistent piety. The annual Feast of Fools in 15th-century Paris, for instance, incorporated an obscene parody of the mass performed in song and dance within the church. By the year 1400 numerous comedies and farces had appeared, usually performed on festive occasions in aristocratic houses or on open stages in municipal squares.

These plays often employed musical forces comparable to those of the religious plays and used them for similar purposes. Choirboys from the church sometimes took part, but surviving texts suggest that there was little choral music as such. The individual actors incorporated parts of songs chanted monophonically to embellish or heighten the dramatic effect, and dancing to specific instrumental music also had a regular place in the entertainment. Professional musicians might be hired and might also be required to act; the constituent parts of the entertainment varied widely from place to place.

The fact that, except for songs, documents of the period contain almost no music directly linked with the theatre is thought to indicate that very little original instrumental music was written for theatrical purposes at this time. Whatever was suitable for weddings, banquets, and other feasts perhaps served a theatrical purpose just as well. Musicians probably had little or no acquaintance with musical notation and played pieces from their regular repertory. These seem to have included arrangements of vocal melodies as well as dance tunes, among which the play texts most frequently identify *basses-dances* and branles.

Performing arts (such as traditional music, dance and theatre)

The performing arts range from vocal and instrumental music, dance and theatre to pantomime, sung verse and beyond. They include numerous cultural expressions that reflect human creativity and that are also found, to some extent, in many other intangible cultural heritage domains.

Music is perhaps the most universal of the performing arts and is found in every society, most often as an integral part of other performing art forms and other domains of intangible cultural heritage including rituals, festive events or oral traditions. It can be found in the most diverse contexts: sacred or profane, classical or popular, closely connected to work or entertainment. There may also be a political or economic dimension to music: it can recount a community's history, sing the praises of a powerful person and play a key role in economic transactions. The occasions on which music is performed are just as varied: marriages, funerals, rituals and initiations, festivities, all kinds of entertainment as well as many other social functions.

Dance, though very complex, may be described simply as ordered bodily movements, usually performed to music. Apart form its physical aspect, the rhythmic movements, steps and gestures of dance often express a sentiment or mood or illustrate a specific event or daily act, such as religious dances and those representing hunting, warfare or sexual activity.

Traditional theatre performances usually combine acting, singing, dance and music, dialogue, narration or recitation but may also include puppetry or pantomime. These arts, however, are more than simply 'performances' for an audience; they may also play crucial roles in culture and society such as songs sung while carrying out agricultural work or music that is part of a ritual. In a more intimate setting, lullabies are often sung to help a baby sleep.

The instruments, objects, artefacts and spaces associated with cultural expressions and practices are all included in the Convention's definition of intangible cultural heritage. In the performing arts this includes musical instruments, masks, costumes and other body decorations used in dance, and the scenery and props of theatre. Performing arts are often performed

in specific places; when these spaces are closely linked to the performance, they are considered cultural spaces by the Convention.

Many forms of performing arts are under threat today. As cultural practices become standardized, many traditional practices are abandoned. Even in cases where they become more popular, only certain expressions may benefit while others suffer.

Music is perhaps one of the best examples of this, with the recent explosion in the popularity of ‘World Music’. Though it performs an important role in cultural exchange and encourages creativity that enriches the international art scene, the phenomenon can also cause problems. Many diverse forms of music may be homogenized with the goal of delivering a consistent product. In these situations, there is little place for certain musical practices that are vital to the process of performance and tradition in certain communities.

Music, dance and theatre are often key features of cultural promotion intended to attract tourists and regularly feature in the itineraries of tour operators. Although this may bring more visitors and increased revenue to a country or community and offer a window onto its culture, it may also result in the emergence of new ways of presenting the performing arts, which have been altered for the tourist market. While tourism can contribute to reviving traditional performing arts and give a ‘market value’ to intangible cultural heritage, it can also have a distorting effect, as the performances are often reduced to show adapted highlights in order to meet tourist demands. Often, traditional art forms are turned into commodities in the name of entertainment, with the loss of important forms of community expression.In other cases, wider social or environmental factors may have a serious impact on performing art traditions. Deforestation, for example, can

deprive a community of wood to make traditional instruments used to perform music.

Many music traditions have been adapted to fit western forms of notation so they may be recorded, or for the purpose of education, but this process can be destructive. Many forms of music use scales with tones and intervals that do not correspond to standard western forms and tonal subtleties may be lost in the process of transcription. As well as music beinghomogenised, changes to traditional instruments to make them more familiar or easier to play for students, such as the addition of frets to stringed instruments, fundamentally alter the instruments themselves.

Safeguarding measures for traditional performing arts should focus mainly on transmission of knowledge and techniques, of playing and making instruments and strengthening the bond between master and apprentice. The subtleties of a song, the movements of a dance and theatrical interpretations should all be reinforced.

Performances may also be researched, recorded, documented, inventoried and archived. There are countless sound recordings in archives all around the world with many dating back over a century. These older recordings are threatened by deterioration and may be permanently lost unless digitized. The process of digitisation allows documents to be properly identified and inventoried.

Cultural media, institutions and industries can also play a crucial role in ensuring the viability of traditional forms of performing arts by developing audiences and raising awareness amongst the general public. Audiences can be informed about the various aspects of a form of expression, allowing it to gain a new and broader popularity, while also promoting

connoisseurship which, in turn, encourages interest in local variations of an art form and may result in active participation in the performance itself.

Safeguarding may also involve improvements in training and infrastructure to properly prepare staff and institutions for preserving the full range of performing arts. In Georgia, students are trained in anthropological fieldwork methods as well as how to record polyphonies, allowing them to create the foundations of a national inventory by creating a database.

Rabindranath Tagore

Rabindranath Tagore[a] FRAS (/rəˈbɪndrənɑːθ təˈgɔːr/; Bengali: [ɾobindɾonatʰ ʈʰakuɾ]; also written **Rabindranātha Thākura**[1] 17 May 1861 – 7 August 1941),[2] sobriquet **Gurudev**,[3] was a Bengali polymath[4] who reshaped Bengali literature and music, as well as Indian art with Contextual Modernism in the late 19th and early 20th centuries. Author of *Gitanjali* and its "profoundly sensitive, fresh and beautiful verse",[5] he became the first non-European to win the Nobel Prize in Literature in 1913.[6] In translation his poetry was viewed as spiritual and mercurial; however, his "elegant prose and magical poetry" remain largely unknown outside Bengal.[7] Sometimes referred to as "the Bard of Bengal",[8] Tagore introduced new prose and verse forms and the use of colloquial language into Bengali literature, thereby freeing it from traditional models based on classical Sanskrit. He was highly influential in introducing the best of Indian culture to the West and vice versa, and he is generally regarded as the outstanding creative artist of the modern Indian subcontinent.

A Pirali Brahmin from Calcutta with ancestral gentry roots in Jessore, Tagore wrote poetry as an eight-year-old.[9] At the age of sixteen, he released his first substantial poems under the pseudonym *Bhānusiṁha* ("Sun Lion"), which were seized upon by literary authorities as long-lost classics.[10][11] By 1877 he graduated to his first short stories and dramas, published under his real name. As a humanist, universalist internationalist, and ardent anti-nationalist,[12][13] he denounced the British Raj and advocated independence from Britain. As an exponent of the Bengal Renaissance, he advanced a vast canon that comprised paintings, sketches and doodles, hundreds of texts, and some two thousand songs; his legacy endures also in the institution he founded, Visva-Bharati University.[14][15][16][17][18]

Tagore modernised Bengali art by spurning rigid classical forms and resisting linguistic strictures. His novels, stories, songs, dance-dramas, and essays spoke to topics political and personal. *Gitanjali* (*Song Offerings*), *Gora* (*Fair-Faced*) and *Ghare-Baire* (*The Home and the World*) are his best-known works, and his verse, short stories, and novels were acclaimed—or panned—for their lyricism, colloquialism, naturalism, and unnatural contemplation. His compositions were chosen by two nations as national anthems: India's *Jana Gana Mana* and Bangladesh's *Amar Shonar Bangla*. Some sources state that Sri Lanka's National Anthem was written by Tagore whilst others state it was inspired by the work of Tagore.[19][20][21][22]

Habib Tanvir (1 September 1923 – 8 June 2009) was one of the most popular Indian *Urdu, Hindi playwrights, a theatre director, poet and actor. He was the writer of plays* such as, *Agra Bazar* (1954) and *Charandas Chor* (1975). A pioneer in Urdu, Hindi theatre, he was most known for his work with Chhattisgarhi tribals, at the Naya Theatre, a theatre company he founded in 1959 in Bhopal. He went on to include indigenous performance forms such as *nacha*, to create not only a new theatrical language, but also milestones such as *Charandas Chor*, *Gaon ka Naam Sasural, Mor Naam Damad* and *Kamdeo ka Apna Basant Ritu ka Sapna*.[1][2][3]

For him true "theatre of the people" existed in the villages, which he strived to bring to the urban "educated", employing both folk performers as actors alongside urban actors.[4] He died on 8 June 2009 at Bhopal after a three-week-long illness.[5][6] Upon his death, he was the last of pioneering actor-managers in Indian theatre, which included Sisir Bhaduri, Utpal Dutt and Prithviraj Kapoor,[7] and often he managed plays with a mammoth cast, such as *Charandas Chor* which included an orchestra of 72 people on stage and *Agra Bazaar* with 52 people.[8]

During his lifetime he won several national and international awards, including the Sangeet Natak Akademi Award in 1969, Padma Shri in 1983, Kalidas Samman 1990, Sangeet Natak Akademi Fellowship in 1996, and the Padma Bhushan in 2002.[9] Apart from that he had also been nominated to become a member of the Upper House of Indian Parliament, the Rajya Sabha (1972–1978). His play 'Charandas Chor' (Charandas, The Thief) won him the Fringe First Award at Edinburgh International Drama Festival in 1982,[10] and in 2005, it was included in the Hindustan Times' list of 'India's 60 Best works since Independence which said : "an innovative dramaturgy equally impelled by Brecht and folk idioms, Habib Tanvir seduces across language barriers in this his all-time biggest hit about a Robin Hood-style thief" so.[11]

Stay in Europe

In 1955, when he was in his 30s, Habib moved to England. There, he trained in Acting at Royal Academy of Dramatic Arts (RADA) (1955) and in Direction at Bristol Old Vic Theatre School (1956). For the next two years, he travelled through Europe, watching various theatre activities. One of the highlights of this period, was his eight-month stay in Berlin in 1956, during which he got to see several plays of Bertolt Brecht, produced by Berliner Ensemble, just a few months after Brecht's death.[12] This proved to have a lasting influence on him, as in the coming years, he started using local idioms in his plays, to express trans-cultural tales and ideologies. This, over the years, gave rise to a 'theatre of roots', which was marked by an utter simplicity in style, presentation and technique, yet remaining eloquent and powerfully experiential.

Return to India

A deeply inspired Habib returned to India in 1958 and took to directing full-time. He produced, 'Mitti ki Gaadi' a post-London play, based on Shudraka's Sanskrit work, Mrichakatika. It became his first important production in Chhattisgarhi. This was the result of the work he had been doing since his return – working with six folk actors from Chhattisgarh. He went on to found 'Naya Theatre,' a theatre company in 1959.

In his exploratory phase, i.e. 1970–73, he broke free from one more theatre restriction – he no longer made the folk artistes, who had been performing in all his plays, speak Hindi. Instead, the artistes switched to Chhattisgarhi, a local language they were more accustomed to. Later, he even started experimenting with 'Pandavani', a folk singing style from the region and temple rituals. This made his plays stand out amidst the gamut of plays which still employed traditional theatre techniques like blocking movements or fixing lights on paper. Spontaneity and improvisation became the hallmark of his new theatre style, where the folk artistes were allowed greater freedom of expression.

His next venture with Chhattisgarhi *Nach* style, saw another breakthrough in 1972, with a staging of the play titled 'Gaon Ka Naam Sasural, Mor Naam Damaad'. This was based on a comic folk tale, where an old man falls in love with a young woman, who eventually elopes with another young man.[13]

By the time he produced his seminal play, 'Charandas Chor' in 1975, the technique became popular. This play immediately established a whole new idiom in modern India theatre, whose highlight was *Nach* – a chorus that provided commentary through song. He also brought in Govind Ram Nirmalkar, a noted Nacha artist who would later go on to win Padma Shri and Sangeet Natak Akademi Awards, to play the lead role.[14] Later, he collaborated with Shyam Benegal, when he adapted the play to a feature-length film, by the same name, starring Smita Patil and Lalu Ram. In 1980, he directed the play *Mere Ram ka Sanyogvha* for Janam (Jan Natya Manch) on the request of Safdar Hashmi.

During his career, Habib has acted in over nine feature films, including Richard Attenborough's film, Gandhi (1982), 'Black and White' and in a yet-to-be-released film on the Bhopal gas tragedy.

His first brush with controversy came about in the 1990s, with his production of a traditional Chhattisgarhi play about religious hypocrisy, 'Ponga Pandit'. The play was based on a folk tale and had been created by Chhattisgarhi theatre artists in the 1930s. Though he had been producing it since the sixties, in the charged social climate after the Babri Masjid demolition, the play caused quiet an uproar amongst Hindu fundamentalists, especially the Rashtriya Swayamsewak Sangh (RSS), whose supporters disrupted many of its shows, and even stopped the auditoriums, yet he continued to show it all over.[15]

Mohan Upreti

Mohan Upreti (Hindi: मोहन उप्रेती) (1928- 1997) was an Indian theatre director, playwright and a music composer, considered one of the pioneers in Indian theatre music.[1]

A popular figure in Kumaon,[2] Mohan Upreti is remembered for his immense contribution towards the revitalisation of the Kumaoni folk music, and for his efforts towards preserving old Kumaoni ballads, songs and folk traditions. Upreti is known for his song "Bada Paksi, Bara Masa".

Biography

Early life and education

Mohan Upreti was born in 1928 in Almora, where he also received his early education. Almora was then a quaint little town, still untouched by rapid development that the British brought to other hill stations like Nainital and Shimla. It was this environment that drew, dancer Uday Shankar to create his institute at Almora in 1937.

He was deeply influenced by trade union leaders like P. C. Joshi, who later became a prominent leader of the Communist Party of India (CPI) and also Upreti's mentor.

In the 40s, Indian People's Theatre Association (IPTA) and the Progressive Writer's Association were formed, as a response to the Indian freedom struggle by the artistic community. Mohan Upreti couldn't remain untouched by this burgeoning movement, and while still at Allahabad University he formed his theatre group, 'Lok Kalakar Sangh'.[3]

Career

As a young man in the 1940s and 50's, Mohan Upreti travelled across Uttarakhand, along with B.M. Shah, and collected the fast vanishing folk songs, tunes, and traditions of the region to preserve them for posterity.

Mohan Upreti was instrumental in bringing the Kumaoni culture and music into national focus by establishing institutions like the Parvatiya Kala Kendra (Center for Arts of the Hills), which he constituted in Delhi, in 1968. The institution produces plays and ballads strongly rooted in the Kumaoni culture.[4] In fact, B.M. Shah and Mohan Upreti together, are credited with the revival of the theatre in the Uttarakhand.[5] He remained in the faculty of National School of Drama (NSD), New Delhi, for many years, and also directed plays for NSD Repertory Company, where his most known work was the play, 'Indra Sabha'.[6]

His most important work is the epic ballad 'Rajula Malushahi', published in 1980, offers never before insights into the Kumaoni folk culture. His other important plays are 'Nanda Devi Jagar',[7] upon which he made a film as well, 'Seeta Swyamvar', and 'Haru Heet'. Apart from that he also gave music for many theatre productions, including 'Ghasiram Kotwal', his music for Hindustani version of Brecht's Three Penny Opera was vastly appreciated and still remembered as his finest.[8]

He worked for many years to revive traditional Ram-Lila plays and bring them to urban audiences.

He also gave music for a number of television productions in the 80's including in a series based on Ruskin Bond's stories, 'Ek Tha Rusty',[9] where again his compositions were noticeable for the distinct Kumaoni folk touch.

He died in 1997, in New Delhi.

B. V. Karanth

Babukodi Venkataramana Karanth (Kannada: ಬಾಬುಕೋಡಿ ವೆಂಕಟರಮಣ ಕಾರಂತ; 10 September 1929 – 1 September 2002) was a renowned film and theatre personality from India. Throughout his life he was director, actor and musician of modern Indian theatre both in Kannada as well as Hindi,[1] and one of the pioneers of Kannada and Hindi new wave cinema.

He was an alumnus of the National School of Drama (1962) and later, its director. He has directed many successful plays and has directed award winning works in Kannada cinema. The Government of India honoured him with the Padma Shri.

Biography

Born in Manchi, a village near Babukodi in Bantwal taluk of Dakshina Kannada district in 1929, Karanth's passion for theatre started at an early age. His first tryst with theatre was when he was in standard III – he acted in *Nanna Gopala*, a play directed by P.K. Narayana.

He then ran away from home and joined the legendary Gubbi Veeranna drama company where he worked alongside Rajkumar[2] who also was starting out then as a novice.

Gubbi Veeranna sent Karanth to Banaras to do his Masters in Arts where he also underwent training in Hindustani music under Guru Omkarnath Thakur.

Thereafter, along with his wife, Prema Karanth, Karanth set up "Benaka", one of Bangalore's oldest theatre groups. It is an acronym for Bengalooru Nagara Kalavidaru. Then, Prema took up a teaching job in Delhi and supported Karanth through the National School of Drama. He was to return the compliment after he graduated from the NSD, and eventually became its director.

He later graduated from the National School of Drama (NSD), New Delhi, in 1962, then headed by Ebrahim Alkazi. Between 1969 and 1972, he worked as a drama instructor at the Sardar Patel Vidyalaya, New Delhi after which the couple returned to Bangalore. Here Karanth dabbled in some cinema as well as music and was involved with the likes of Girish Karnad and U.R. Ananthamurthy in these ventures.

He then returned to the NSD, this time as its Director in 1977. As the director of NSD, Karanth took theatre to far-flung corners of India. He conducted several workshops in places far away as Madurai in Tamil Nadu. After his stint as the director of NSD, the Madhya Pradesh government invited him to head the Rangamandal repertory under the aegis of the Bharat Bhavan. After rendering yeoman service to the theatre scene in Madhya Pradesh between 1981 and '86, Karanth returned to Karnataka. It was alleged by the MP Police that he was having an affair with one actress-Vibha Mishra, where in a drunk state, he poured Kerosene over her, and burnt her. However, Vibha, after recovering from her injuries, gave a statement that proved Karanth's innocence and freed him from the charges of an attempt to murder. He was criticised bitterly by Women activists and was forced to move out of Bhopal.

In 1989, the Karnataka government invited him to set up a repertory in Mysore, which he named Rangayana and headed until 1995.[3]

Plays of B. V. Karanth

Karanth directed over a hundred plays, more than half of which were in Kannada with Hindi close behind. He also directed plays in English, Telugu, Malayalam, Tamil, Punjabi, Urdu, Sanskrit and Gujarati. *Hayavadana* (by Girish Karnad), *Kattale Baluka*, *Huchcha Kudure*, *Evam Indrajit*, *Gadipar*, *Sankranti*, *Jokumara Swami*, *Sattavara Neralu*, *Hattava Baduduve* and *Gokula Nirgamana* are some of his most popular plays in Kannada. Of the forty or so plays he directed in Hindi, Macbeth (using the traditional Yakshagana dance drama form), King Lear, Chandrahasa, Hayavadana, Ghasiram Kotwal, Mrichha Katika, Mudra Rakshasa, and Malavikagni Mitra are some of the more popular ones. Karanth also revelled in directing children and directed several children plays like *Panjara Shale*, *Nveli Kadore*, *Heddayana*, *Alida Ramayana* and *The Grateful Mom*.

Benaka

In 1974, Karanth started *BeNaKa* a repertory in Bangalore. Benaka was an acronym for *Bengalooru Nagara Kalavidaru*. Benaka stages several hugely popular plays like *Hayavadana* all across Karnataka and even overseas. At Benaka, Karanth also took a special interest in children's theatre and directed several plays with children. This group has been taken care of by Prema Karanth, Karanth's late wife and a noted theatre personality in her own right. She died on 29-10-07.

Contribution to Madhya Pradesh theatre

Karanth was largely responsible for starting the new theatre movement in Madhya Pradesh. As director of the NSD, at the invitation of the Bharat Bhavan in Bhopal, he organised a training-cum-production camp in 1973. In the 1980s, he returned to set up the Rangmandal repertory in Bharat Bhavan. This was to be the first-ever repertory in the state and he became the main creative spirit behind the now-legendary Bharat Bhavan.

Rangmandal, for the first time, folk professionals were used for training contemporary actors, and the repertory also included folk performers among its members. Apart from Hindi, plays were also produced in dialects such as Bundelkhandi, Malavi and Chhattisgarhi which created huge ticket-buying audiences for the Rangmandira.

Indian Drama

Musical Play

Musical Play

Musical Play

Musical Play

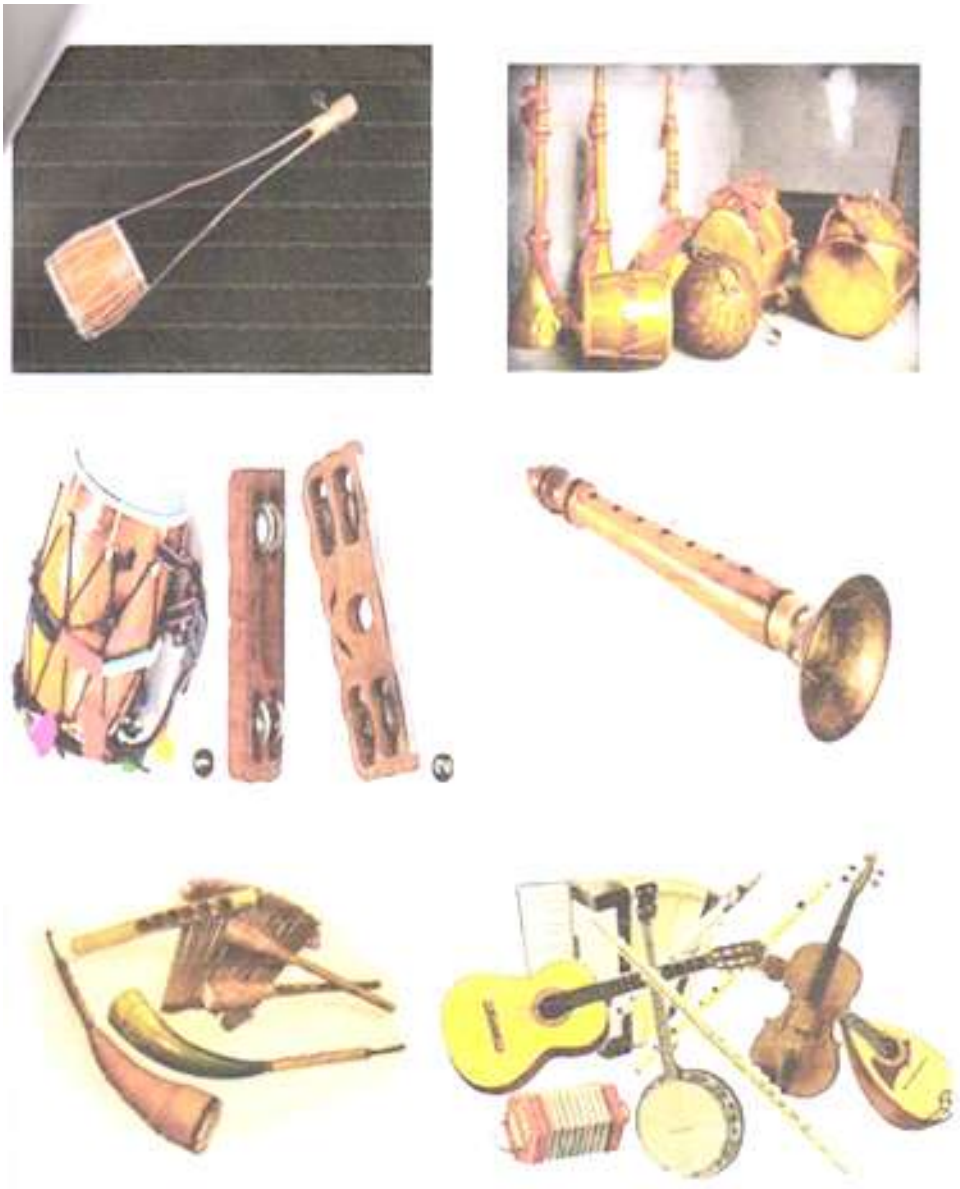

Instrument Used in Theatre Music

Instrument Used in Theatre Music

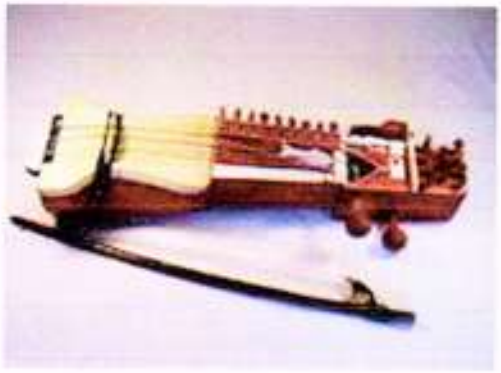

Instrument Used in Theatre Music

Indian Instruments

Instrument Used in Theatre Music

संदर्भ, साभार एवं आभार

- अभिनय दर्पण – आचार्य नन्दकिशोर
- आन्ध्र की सांस्कृतिक संरचना – डॉ शैलेजा पदमावती
- दक्षिण का रंगमंच – टी आर भट्ट, हरिश्चन्द्र, डॉ नंदिनी
- केरल के सांस्कृतिक विरासत – डॉ0 गोपीनाथन
- रंग परंपरा – नेमी चन्द्र जैन
- परंपरा शील नाट्य – जगदीश चन्द्र माथुर
- संगीत का इतिहास और नवजागरण – डॉ रामबिलास शर्मा
- इंडियन क्लासिकल डांस – कपिला वात्सयायन
- कथ्थक प्रसंग – रश्मि बाजपेयी
- लोकायन – डॉ ओम प्रकाश भारती
- नाट्य शास्त्र – भरत मुनि

द्वितीय अध्याय

लोकोक्ति, मुहावरं एवं कहावतों का उत्पत्ति, उद्भव इतिहास तथा स्थानीय क्षेत्रों के भौगोलिक, संस्कृति एवं भाषाओं के साथ विकास एवं सामाजिक जीवन पर महत्व और प्रभाव :–

लोकोक्ति, कहावतें एवं मुहावरे का अर्थ, उत्पत्ति ऐतिहासिकता एवं मानव जीवन :–

लोकोक्ति, कहावतें एवं मुहावरे आम जनमानस द्वारा स्थानीय बोलियां में हर दिन की परिस्थितियां एवं संदर्भ से उपजे वैसे पद एवं वाक्य होते हैं। जो किसी खास समूह उम्र वर्ग या क्षेत्रिय दायरे में प्रयोग किया जाता हैं। इसके स्थान विशेष के भूगोल, संस्कृति, भाषाओं का मिश्रण इत्यादि को झलक मिलती है। ये किसी ना किसी व्यक्ति के अनुभव पर आधारित होते है। तथा भाषा सुदृढ, गतिशील और रूचिकर बनाती है। प्राचीन काल से ही ज्ञान को मौखिक रूप एक पीढी से दूसरे पीढी में स्थानांतरित करने का माध्यम था साथ ही जल्दी ज्ञान आत्मसात हो जाये इसीलिए ये गायन शैली या गीतों के रूप में होता था, इसके प्रयोग से रोचकता के साथ हास्य व्यंग की उत्पत्तियां होती है। साथ– साथ भाषा का सौंदर्य और सार्थकता भी बढ़ जाती है।

जैसे :–

- ❖ राम नाम में आलसी भोजन में होशियार
- ❖ हाथी चले बाजार कुत्ता भौंके हजार
- ❖ नाँच ना जाने आंगन टेढा
- ❖ अंधा सिपाही कानी घोड़ी, विधि ने खूब मिलाई जोड़ी।

प्रत्येक लोकोक्ति समाज में प्रचलित होने से पूर्व में अनेक बार लागों के अनुभव की कसौटी पर कसी गई है। और सभी लोगों अनुभव लोकोक्ति के साथ–साथ एक से रहे हैं। लोकोक्ति का अर्थ है , लोक की उक्ति अर्थात जन – कथन । लोकोक्ति अथवा कहावतें लोक जीवन की किसी घटना या अर्न्तकथा से जुड़ी रहती है। इनका जन्म लोक– जीवन में ही होतो है।

लोकोक्ति का अर्थ है लोक या समाज में प्रचलित उक्ति। विभिन्न विद्वानों ने लोकोक्ति की परिभाषा भिन्न–भिन्न शब्दों में की है।

बेकन के अनुसार, भाषा के वे तीव्र प्रयोग, जो व्यापार और व्यवहार की शुद्धियाँ को काट कर तह तक पहुंच जाते हैं, लोकोक्ति कहलाते हैं।

डॉ0 जॉनसन कहते है। कि वे संक्षिप्त वाक्य जिनको लोग प्रायः दोहराया करते हैं, लोकोक्ति कहलाते है।

इरैस्मस का कथन है कि वे लोक प्रसिद्ध और लोक प्रचलित उक्तियां, जिनकी एक विलक्षण ढंग से रचना हुई हो। कहावत कहते हैं।

ऑक्सफोर्ड कनसाईज डिक्शनरी में लिखि है सामान्य व्यवहार मे प्रयुक्त संक्षिप्त और सारपूर्ण उक्ति कहावत कहलाती हैं।

चेम्बर्स डिक्सनरी के अनुसार लोकोक्ति वह संक्षिप्त और लोकप्रिय वाक्य है जो एक कथित सत्य या नैतिक शिक्षा अभिव्यक्त करता है।

सर्वन्टीज के अनुसार कहावतें वे छोटे वाक्य है। जिनमें लंबे अनुभव को सार ।

फ्लेमिंग की समपत्ति में लोकोक्तियां में किसी युग अथवा राष्ट्र प्रचलित और व्यावहारिक ज्ञान होता है।

जब हम उपर्युक्त परिभाषाओं तथा लोकोक्तियों के विन्यास तथा प्रकृति पर विचार करते हैं। तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वे बोलचाल में बहुत आने वाले ऐसे बंधे हुए चमत्कारपूर्ण वाक्य होते हैं। जिनमें किसी अनुभव या तथ्य की बातें कही गई हो अथवा कुछ उपदेश या नैतिक शिक्षा हो गई हो, और जिसमें लक्षण या व्यंजना का प्रयोग किया गया हो जैसे –

- ❖ आँख का अंधा नाम नयनसुख
- ❖ यहाँ का बाबा आहम ही निराले है। आदि

लोकोक्ति किसी समाज के अनुभव तथा उससे उपलब्ध ज्ञान का निचोड़ होती हैं। वे प्राचिनितम् पुस्तकों से भी प्राचीन तथा वैविधपूर्ण होती है। समाज के सभी वर्गों के व्यक्ति उनमें कभी भी लाभ उठा सकते हैं।

लोकोक्तियाँ की परिभाषा :-

किसी विशेष स्थान पर प्रसिद्ध हो जाने वाले कथन को 'लोकोक्ति' कहते हैं।

लोकोक्ति किसी घटना पर आधारित होती है। इसके प्रयोग में कोई परिवर्तन नहीं होता है। ये भाषा के सौन्दर्य में वृद्धि करती है। लोकोक्ति के पीछे कोई कहानी या घटना होती है। उससे निकली बात बाद में लोगों की जुबान पर जब चल निकलती है, तब 'लोकोक्ति' हो जाती है।

यहाँ कुछ लोकोक्तियाँ व उनके अर्थ तथा प्रयोग दिये जा रहे हैं-

अन्धों में काना राजा= मूर्खो में कुछ पढ़ा-लिखा व्यक्ति।
प्रयोग- मेरे गाँव में कोई पढ़ा-लिखा व्यक्ति तो है नही; इसलिए गाँववाले पण्डित अनोखेराम को ही सब कुछ समझते हैं। ठीक ही कहा गया है, अन्धों में काना राजा।

अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता= अकेला आदमी लाचार होता है।
प्रयोग- माना कि तुम बलवान ही नहीं, बहादुर भी हो, पर अकेले डकैतों का सामना नहीं कर सकते। तुमने सुना ही होगा कि अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ता।

अधजल गगरी छलकत जाय= डींग हाँकना।
प्रयोग- इसके दो-चार लेख क्या छप गये कि वह अपने को साहित्य-सिरमौर समझने लगा है। ठीक ही कहा गया है, 'अधजल गगरी छलकत जाय।'

आँख का अन्धा नाम नयनसुख= गुण के विरुद्ध नाम होना।
प्रयोग- एक मियाँजी का नाम था शेरमार खाँ। वे अपने दोस्तों से गप मार रहे थे। इतने में घर के भीतर बिल्लियाँ म्याऊँ-म्याऊँ करती हुई लड़ पड़ी। सुनते ही शेरमार खाँ थर-थर काँपने लगे। यह देख एक दोस्त ठठाकर हँस पड़ा और बोला कि वाह जी शेरमार खाँ, आपके लिए तो यह कहावत बहुत ठीक है कि आँख का अन्धा नाम नयनमुख।

आँख के अन्धे गाँठ के पूरे= मूर्ख धनवान।
प्रयोग- वकीलों की आमदनी के क्या कहने। उन्हें आँख के अन्धे गाँठ के पूरे रोज ही मिल जाते हैं।

आग लगन्ते झोपड़ा, जो निकले सो लाभ= नुकसान होते-होते जो कुछ बच जाय, वही बहुत है।
प्रयोग- किसी के घर चोरी हुई। चोर नकद और जेवर कुल उठा ले गये। बरतनों पर जब हाथ साफ करने लगे, तब उनकी झनझनाहट सुनकर घर के लोग जाग उठे। देखा तो कीमती

माल सब गायब। घर के मालिकों ने बरतनों पर आँखें डालकर अफसोस करते हुए कहा कि खैर हुई, जो ये बरतन बच गये। आग लगन्ते झोपड़ा, जो निकले सो लाभ। यदि ये भी चले गये होते, तो कल पत्तों पर ही खाना पड़ता।

आगे नाथ न पीछे पगहा= किसी तरह की जिम्मेवारी का न होना।
प्रयोग- अरे, तुम चक्कर न मारोगे तो और कौन मारेगा? आगे नाथ न पीछे पगहा। बस, मौज किये जाओ।

आम के आम गुठलियों के दाम= अधिक लाभ।
प्रयोग- सब प्रकार की पुस्तकें 'साहित्य भवन' से खरीदें और पास होने पर आधे दामों पर बेचें। 'आम के आम गुठलियों के दाम' इसी को कहते हैं।

ओखली में सिर दिया, तो मूसलों से क्या डर= काम करने पर उतारू होना।
प्रयोग- जब मैनें देशसेवा का व्रत ले लिया, तब जेल जाने से क्यों डरें? जब ओखली में सिर दिया, तब मूसलों से क्या डर।

ऊँची दूकान फीके पकवान= केवल ब्राह्य प्रदर्शन।
प्रयोग- जग्गू तेली शुद्ध सरसों तेल का विज्ञापन करता है, लेकिन उसकी दूकान पर बिकता है रेपसीड-मिला सरसों तेल। ठीक है ऊँची दूकान फीके पकवान।

कहाँ राजा भोज कहाँ गाँगू तेली= उच्च और साधारण की तुलना कैसी।
प्रयोग- तुम सेठ करोड़ीमल के बेटे हो। मैं एक मजदूर का बेटा। तुम्हारा हमारा और मेरा मेल कैसा ? कहाँ राजा भोज कहाँ गाँगू तेली।

घर का जोगी जोगड़ा, आन गाँव का सिद्ध= निकट का गुणी व्यक्ति कम सम्मान पाता है, पर दूर का ज्यादा।
प्रयोग- जग्गू को लोग जगुआ कहकर पुकारते थे। घर त्यागकर सिद्ध पुरुष की संगति में रहकर उसने सिद्धि प्राप्त कर ली और उसका नाम हो गया- स्वामी जगदानन्द। गाँव लौटा, तो किसी ने उसके गुणों की ओर ध्यान नहीं दिया। ठीक ही कहा गया है: 'घर का जोगी जोगड़ा, आन गाँव का सिद्ध।'

चिराग तले अँधेरा= अपनी बुराई नहीं दीखती।
प्रयोग- मेरे समधी सुरेशप्रसादजी तो तिलक-दहेज न लेने का उपदेश देते फिरते है; पर

अपने बेटे के ब्याह में दहेज के लिए ठाने हुए हैं। उनके लिए यही कहावत लागू है कि 'चिराग तले अँधेरा।'

जिन ढूँढ़ा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ= परिश्रम का फल अवश्य मिलता है।
प्रयोग- एक लड़का, जो बड़ा आलसी था, बार-बार फेल करता था और दूसरा, जो परिश्रमी था, पहली बार परीक्षा में उतीर्ण हो गया। जब आलसी ने उससे पूछा कि भाई, तुम कैसे एक ही बार में पास कर गये, तब उसने जवाब दिया कि 'जिन ढूँढ़ा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ'।

नाच न जाने आँगन टेढ़= काम न जानना और बहाना बनाना।
प्रयोग- सुधा से गाने के लिए कहा, तो उसने कहा- साज ही ठीक नहीं, गाऊँ क्या ?कहा है: 'नाच न जाने आँगन टेढ़।'

न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी= न कारण होगा, न कार्य होगा।
प्रयोग- सेठ माणिकचन्द के घर रोज लड़ाई-झगड़ा हुआ करता था। इस झगड़े की जड़ में था एक नौकर। वही इधर की बात उधर किया करता था। यह बात सेठ को मालूम हो गयी। उन्होंने उसे निकाल दिया। बहुतों ने उसकी ओर से सिफारिश की तो सेठ ने कहा- 'नहीं, वह झगड़ा लगाता है। 'न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी।'

होनहार बिरवान के होत चीकने पात= होनहार के लक्षण पहले से ही दिखायी पड़ने लगते है।
प्रयोग- वह लड़का जैसा सुन्दर है, वैसा ही सुशील, और जैसा बुद्धिमान है, वैसा ही चंचल। अभी बारह वर्ष भी पूरे नहीं हुए, पर भाषा और गणित में उसकी अच्छी पैठ है। अभी देखने पर स्पष्ट मालूम होता है कि समय पर वह सुप्रसिद्ध विद्वान होगा। कहावत भी है, 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात'।

हाथी के दाँत खाने के और दिखाने के और= कहना कुछ और करना कुछ और।
प्रयोग- आजकल के नेताओं का विश्वास नहीं। इनके दाँत तो दिखाने के और होते हैं और खाने के और होते हैं।

भागते चोर की लंगोटी ही सही= सारा जाता देखकर थोड़े में ही सन्तोष करना।
प्रयोग- सेठ करोड़ीमल पर मेरे दस हजार रुपये थे। दिवाला निकलने के कारण वह केवल दो हजार रु० ही दे रहा है। मैंने सोचा, चलो भागते चोर की लंगोटी ही सही।

ईश्वर की माया कहीं धूप कहीं छाया= ईश्वर की बातें विचित्र हैं।
प्रयोग- कई बेचारे फुटपाथ पर ही रातें गुजारते हैं और कई भव्य बंगलों में आनन्द करते हैं। सच है ईश्वर की माया कहीं धूप कहीं छाया।

आ बैल मुझे मार= स्वयं मुसीबत मोल लेना।
प्रयोग- लोग तुम्हारी जान के पीछे पड़े हुए हैं और तुम आधी-आधी रात तक अकेले बाहर घूमते रहते हो। यह तो वही बात हुई- आ बैल मुझे मार।

कुछ अन्य लोकोक्तियाँ और उनके अर्थ

अन्धा बाँटे रेवड़ी फिर-फिर अपने को दे= अधिकार का नाजायज लाभ अपनों को देना।

अपनी गली में कुत्ता भी शेर होता है= अपने स्थान पर निर्बल भी स्वयं को सबल समझता है।

मुँह में राम बगल में छुरी= कपटपूर्ण आचरण।

एक हाथ से ताली नहीं बजती= झगड़ा एक ओर से नहीं होता।

दूध का दूध पानी का पानी= सही निर्णय।

दूध का जला छाछ को फूंक मारकर पीता है= धोखा खाकर आदमी सतर्क हो जाता है।

जान बची तो लाखों पाये= जान बचने से बड़ा कोई लाभ नहीं है।

खरबूजे को देखकर खरबूजा रंग बदलता है= एक का प्रभाव दूसरे पर अवश्य पड़ता है।

बिल्ली के भाग्य से छींका टूटना= अचानक मनचाहा कार्य हो जाना।

पाँचों उँगलियाँ बराबर नहीं होतीं= सभी व्यक्ति एक-से नहीं होते।

दीवारों के भी कान होते हैं= गुप्त बात छिपी नहीं रहती।

चोर की दाढ़ी में तिनका= अपराधी स्वयं ही पकड़ा जाता है।

कंगाली में आटा गीला= परेशानी पर परेशानी आना।

एक और एक ग्यारह= एकता में शक्ति होती है।

अन्धा क्या चाहे दो आँख= अपनी मनपसन्द वस्तु को पा लेना।

कहावत:-

वर्षो के अनुभव की कसौटी पर कसे गए कथन को लोकोक्ति या कहावत कहा जाता है लोकोक्तियाँ भी मुहावरों की भांति अपना सामान्य अर्थ छोड़कर विशेष अर्थ प्रकट करती है।

- **"कहावत" -** इस शब्द का अर्थ है - "समाज में प्रचलित कथन", जिसका हम रोजमर्रा की ज़िंदगी में उपयोग करते हैं। आम लोगों के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्यों को प्रकट करने वाले संक्षिप्त किन्तु महत्त्वपूर्ण कथनों को 'कहावत' कहा जाता है।
- कहावतें प्रायः सांकेतिक रूप में होती हैं। प्रायः एक भाषा की कहावतों को दूसरी भाषाओं में भी अपना लिया जाता है। भारत के विभिन्न प्रान्तों में अपने-अपने भाव, भाषा एवं वेशभूषा के अनुरूप लोक-कहावतें जन-जन के मुख पर आती रहती हैं।
- इन कहावतों में मानवीय जीवन की प्रत्येक हलचल का सही चित्रण हमें देखने को मिलता है। ऐसी ही कुछ कहावतें हैं जिनमें स्वास्थ्य, खेती सुधार, उपज वृद्धि के भाव कूट-कूट कर भरे पड़े हैं। ऐसी ही कुछ कहावतें, अर्थ के साथ आपके सामने है :-

1. थोथा चना बाजे घना : दिखावा बहुत करना परन्तु सार न होना.
2. दूर के ढोल सुहावने : किसी वस्तु से जब तक परिचय न हो तब तक ही अच्छी लगती है.
3. नदी में रहकर मगरमच्छ से बैर : अपने को आश्रय देने वाले से ही शत्रुता करना.
4. बाप बड़ा न भैया सबसे बड़ा रुपैया : रुपये वाला ही ऊँचा समझा जाता है.
5. भेड़ जहाँ जायेगी, वहीं मुँडेगी : सीधे-सादे व्यक्ति को सब लोग बिना हिचक ठगते हैं.
6. रस्सी जल गई पर बल नहीं गया : बरबाद हो गया, पर घमंड अभी तक नहीं गया.
7. अपने बेरों को कोई खट्टा नहीं बताता : अपनी वस्तु को कोई बुरी नहीं बताता.
8. अपने मुँह मियाँ मिट्ठू : अपने मुँह अपनी प्रशंसा करना.
9. अन्त भले का भला : अच्छे आदमी की अन्त में भलाई होती है.
10. अन्धे के हाथ बटेर : अयोग्य व्यक्ति को कोई अच्छी वस्तु मिल जाना.
11. अन्धों में काना राजा : मूर्ख मण्डली में थोड़ा पढ़ा-लिखा भी विद्वान् और ज्ञानी माना जाता है.

12. अक्ल बड़ी या भैंस : शारीरिक बल से बुद्धि बड़ी है.
13. अपनी-अपनी ढपली अपना-अपना राग : सबका अलग-अलग रंग-ढंग होना.
14. अपनी करना पार उतरनी : अपने ही कर्मों का फल मिलता है.
15. अब पछताये होत क्या जब चिड़ियाँ चुग गईं खेत : समय बीत जाने पर पछताने का क्या लाभ.
16. आँख का अन्धा नाम नैनसुख : नाम अच्छा पर काम कुछ नहीं

कहावतें मनुष्य के संपूर्ण जीवन के अनुभव तथा ज्ञान का समुच्चय होती हैं। मानव अनादिकाल से जो कुछ भी देखता-सुनता तथा अनुभव करता रहा है, उसे ही उसने सूत्र-शैली में व्यक्त किया है। ये ही सूत्र वास्तव में कहावत हैं। सभ्यता के विकास के साथ ही सामान्य जन-जीवन में कहावतों की परंपरा विकसित हुई होगी। लोक-साहित्य की अन्य विधओं की ही भाँति इसका जन्म लिखित साहित्य के पूर्व हो चुका था। सभ्यता के विकास के साथ ही लोक-जीवन के मध्य कहावतों का भी प्रचलन हुआ होगा। ऐसा अनुमान किया जाता है कि मानव ने अपने जीवन में जो कुछ भी देखा-सुना या अनुभव किया होगा, उसे सूत्रों में पिरोकर कहावतों के रूप में व्यक्त किया होगा।

डॉ.. वासुदेवशरण अग्रवाल के मतानुसार उपनिषद-युग के पश्चात सूत्र-शैली का जन्म हुआ। अतः, इसी सूत्र-काल में कहावतों का उत्कर्ष विशेष रूप से हुआ होगा। चूँकि ये सूत्र-वाक्य; कहावतें जीवन के सार्वभौम सत्य, सुख-दुःख, जीवन-मरण, आचार-विचार, रीति-नीति, खान-पान, शकुन-अपशकुन, खेती-बारी, आहार-विहार, पशु-पक्षी, जीव-जंतु आदि सभी से संबंधित हैं, इसलिए ये सामान्य अथवा सर्वमान्य उक्तियों के रूप में प्रचलित हो गए। ये उक्तियाँ यथावसर परस्पर कही-सुनी जाती रहीं, इसलिए इन्हें लोक-जीवन में 'कहावत' नाम से अभिहित किया गया।

समाज में जो कुछ भी कार्य-व्यापार घटित होता है, जो कुछ भी सभी लोग समान रूप से महसूस करते हैं, जो कुछ सभी लोगों के लिए सार्वभौम सत्य होता है, वही किसी एक व्यक्ति के मुख से सहज स्वाभाविक तरीके से सूत्र-रूप में अभिव्यक्त हो जाता है, जिसे सुनकर हम चमत्कृत तथा प्रमुदित हो जाते हैं और जिसे यथावसर बार-बार

कहते-सुनते रहते हैं। उस उक्ति में मनुष्य को स्वयं से ही जुड़े हुए किसी सार्वभौम अथवा सार्वजनीन समस्या का सार मुखरित हुआ मिलता है। इसलिए वह अनायास ही जन-समुदाय द्वारा अपना लिया जाता है। फलस्वरूप, वह उक्ति व्यक्ति-विशेष या काल-विशेष तक ही सीमित न रहकर, सार्वभौम, सार्वजनीन, तथा सार्वकालिक बन जाती है। उसे ही लोग पीढ़ी-दर-पीढ़ी कहते-सुनते चले जाते हैं। यही परंपरागत कही-सुनी जाने वाली उक्ति कहावत के नाम से जानी जाती है।

समाज को चेतना दे रहीं कहावतें

जनकवि घाघ की कहावतें सभी जगह प्रचलित हैं जैसे प्रात: काल सोकर उठते हन्ी पानी पीना चाहिये। वह सदैव निरोगी रहेगा उसके घर कभी डाक्टर या वैद्य नहीं आते हैं-

प्रात: काल खटिया ते उठिके पिये तुरन्ते पानी,
ता घर वैद्य न आवे या बात सोच जब जानी

इसी प्रकार भोजन के पश्चात पेशाब करके जो बायें करवट सोते है वे अपने गांव में कभी चिकित्सक नहन्ीं बसाते है:-

खोई के मुते सुते बांऊ, काहे वैध बसा वे गांऊ

निरोगी रहने हेतु एक बार शौच योगी पुरुष जाता है दो बार भोगी पुरुष जाता है और जो तीन बार शौच जाता है उसे बीमार श्रेणी में माना जाता है इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को दो बार शौच जाना चाहिये- प्रात: काल तथा संध्याकाल ताकि स्वास्थ्य पर कोई कुप्रभाव न पडे- एक बार योगी दो बार भोगीतीन बार रोगी।

वर्तमान वैज्ञानिक युग में बारहमासी सब्जी तथा फलों के पैदा करने के नये-नये प्रयोग हो रहे हैं। किन्तु निरोगी होने के लिये कहावतों में स्पष्ट परहेज करना स्वस्थ्य होना बताया गया है-

चैत गुड बैशाखे तेलु, जेठ पंथ अषाढै बेलु।
सावन सतुवा, भादौ दही, कुआंर करेगा कार्तिक मही॥
अगहन जीरा, पूसै धना, माघै मिसरी फागुन चना।

ई बारह जो दे बचाय, वेहि घर वैद कवौ न जाय।

अर्थात चैत्र में गुड अौर वैशाख में तेल का उपयोग वर्जित है। ज्येष्ठ मास में गरमी की अधिकता के कारण यात्रा से बचना चाहिये, आषाढ में बेल, सावन में सत्तू, भादों में दही, कुंवार में करेला, कार्तिक में मठ्ठा, अगहन में जीरा, पौष में धनियां, माघ में मिसरी और फागुन में चना नहीं खना चाहिये।

उपर्युक्त कुछ चीजें जो बताये गये महिनों में अधिक मात्रा में होने के कारन्ण लोग ज्यादा खा लेते हैं, इसलिये उनसे बचने की राय दी गई है क्योंकि ऋतुओं के सरद या गरम होने के कारण ये वस्तुएं स्वास्थ्य के अनुकूल नहीं होती है।

इसी प्रकार भोजन को पचाने में कुछ तत्व और पदार्थ सहायक होते हैं:-

नित भोजन के अंत में तोल भर गुड ख़ाय,

अपच मिटे, भोजन पचे, कब्जियत मिट जाये॥

इसी प्रकार भोजन में पूर्व की भी कुछ वस्तुओं के प्रयोग की विधियां बताई गयी है जो भोजन को अनुकूल बनाने में अति सहायक होती है:-

नींबू आधा काटिये सेंधा नमक मिलाय,

भोजन प्रथमहिं चूसिये सौ अजीर्ण मिट जाये।

कुछ ऋतुओं में शरीर में पित्त की अधिकता अनुभव होती है जिसे रोकने के लिये लोकोक्ति के माध्यम से कितनी अच्छी सलाह दी गई है कि , ये सोंठ शकर और काली मिर्च, काला नमक मिलाये नींबू रस में चूसिए पित्ता शांत हो जाये।

कुछ वस्तुओं को नियमित प्रयोग करने से व्यक्ति स्वस्थ्य रहने की सलाह इन लोकोक्तियों में दी गई है:-

जो नित आंवरा खात है प्रात पियत है पानी, कबहुं न मिलिहैं बैधराज से कबहुं न जाई जवानी जोभोरहिं माठा पियत हैं जीरा नमक मिलाय। बल बुद्धि तीसे बढत है सबै रोग जरि जायं। और जो रोज पपीता खाय या घर बैद्य न आय। कुछ शिक्षाप्रद कहावतें भी है जिन पर मनुष्य निरोगी रह सकता है। संसार के दंत रोग विशेषज्ञों का स्पष्ट मत हन्ै कि सभी रोगों का मूल है दांत। इसलिये दांतों की सुरक्षा तथा रोग दूर करने हेतु डेंटिस्ट विद्यालय अधिक मात्रा में स्थापित हो रहे है।

अत्यधिक गरम पेय पदार्थ या भोजन करने सम्बन्धी चेतावनी में कहा गया है:-

अधिक गरम जो पय पिये अथवा भोजन खाए,
वृद्धावस्था के प्रथम बत्तीसी झड ज़ाए।
इसी प्रकार बचपन से ही यह कहावत कंठस्थ करा दी जाती थी-
आंख में अंजन, दांत में मंजन नित कर नित कर,
नाक में अंगुली कान में तिनका मत कर मत कर।
ऐसी ही अनेक कहावतें और भी है-
सोंठ, सुहागा, सेंधा, गंधी, सहिजन रस में बढिया बंधी,
सत्तर शूल बहत्तर बाय, कहै धनवंतरि खातै जाय।

मुहावरे :–

विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से 'मुहावरे' की परिभाषा की है। मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि जिस सुगठित शब्द-समूह से लक्ष्णाजन्य कभी-कभी व्यंजनाजन्य कुछ विशिष्ट अर्थ निकलता है उसे 'मुहावरा' कहते हैं। कभी-कभी यह व्यंग्यात्मक होते हैं। इनकी गठन विशेष शब्दों या क्रिया-प्रयोगों के योग से होती है। यदि इनकी गठन में किसी प्रकार का परिवर्तन कर दिया जाए तो उनके लाक्षणिक अर्थ का लोप हो जाता है और वे 'मुहावरे' नहीं रह जाते। डॉ. उदय नारायण तिवारी ने लिखा है, ''हिन्दी-उर्दू में लक्षण अथवा व्यंजना द्वारा सिद्ध वाक्य को ही 'मुहावरा' कहते हैं।'
'Advanced Learners' Dictionary' में A.S. Hornby ने लिखा है कि 'मुहावरा' शब्दों का वह क्रम या समूह है जिसमें सब शब्दों का अर्थ एक साथ मिलाकर किया जाता है। Chamber's Twentieth Century Dictionary के अनुसार, किसी भाषा की विशिष्ट अभिव्यंजना-पद्धति

को 'मुहावरा' कहते हैं। Oxford Concise Dictionary के अनुसार, किसी भाषा की अभिव्यंजना के विशिष्ट रूप को 'मुहावरा' कहते हैं। एक अन्य पक्ष है कि विशिष्ट शब्दों विचित्र प्रयोगों एवं प्रयोग-सिद्ध विशिष्ट वाक्यांशों वाक्य-पद्धति को 'मुहावरा कहते हैं।

मुहावरे हमारी तीव्र हृदयानुभूति को अभिव्यक्त करने में सहायक होते हैं। इनका जन्म आम लोगों के बीच होता है। लोक-जीवन में प्रयुक्त भाषा में इनका उपयोग बड़े ही सहज रूप में होता है। इनके प्रयोग से भाषा को प्रभावशाली, मनमोहक तथा प्रवाहमयी बनाने में सहायता मिलती है। सदियों से इनका प्रयोग होता आया है और आज इनके अस्तित्व को भाषा से अलग नहीं किया जा सकता। यह कहना निश्चित रूप से गलत नहीं होगा कि मुहावरों के बिना भाषा अप्राकृतिक तथा निर्जीव जान पड़ती है। इनका प्रयोग आज हमारी भाषा अौर विचारों की अभिव्यक्ति का एक अभिन्न तथा महत्वपूर्ण अंग बन गया है। यही नहीं इन्होेंने हमारी भाषा को गहराई दी है तथा उसमें सरलता तथा सरसता भी उत्पन्न की है। यह मात्र सुशिक्षित या विद्वान लोगों की ही धरोहर नहीं है, इसका प्रयोग अशिक्षित तथा अनपढ़ लोगों ने भी किया है। इस प्रकार ये वैज्ञानिक युग की देन नहीं है। इनका प्रयोग तो उस समय से होने लगा, जिस समय मनुष्य ने अपने भावों को अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया था।

1. अपना उल्लू सीधा करना : स्वार्थ सिद्ध करना
2. अपनी खिचड़ीअलग पकाना: सबसे अलग रहना
3. अपने मुँह मियां मिट्ठू बनना: अपनी प्रशंसा स्वयं करना
4. अपने पाँव पर कुल्हाड़ी मारना: स्वयं को हाँनि पहुँचाना
5. अपने पैरों पर खड़े होना : आत्म निर्भर होना
6. अक्ल पर पत्थर पड़ना : बुद्धि भ्रष्ट होना
7. अक्ल के पीछे लट्ठ लेकर फिरना : मूर्खता प्रदर्शित करना

8. अँगूठा दिखाना : कोई वस्तु देने या काम करने से इंकार करना

9. अँधे की लकड़ी होना : एक मात्र सहारा

10. अच्छे दिन आना : भाग्य खुलना

11. अंग-अंग फूले न समाना : बहुत खुशी होना

12. अंगारों पर पैर रखना : साहस पूर्ण खतरे में उतरना

13. आँख का तारा होना : बहुत प्यारा

14. आँखें बिछाना: अत्यन्त प्रेम पूर्वक स्वागत करना

15. आँखें खुलना : वास्तविकता का बोध होना

16. आँखों से गिरना : आदर कम होना

17. आँखों में धूल झोंकना : धोखा देना

18. आँख दिखाना: क्रोध करना/डराना

19. आटे दाल का भाव मालूम होनाः बड़ी कठिनाई में पड़ना

20. आग बबूला होना : बहुत गुस्सा होना

21. आग से खेलना : जानबूझ कर मुसीबत मोल लेना

22. आग में घी डालना: क्रोध भड़काना

23. आँच न आने देना : हानि या कष्ट न होने देना

24. आड़े हाथों लेना : खरी-खरी सुनाना

25. आनाकानी करना : टालमटोलकरना

26. आँचल पसारना : याचना करना

27. आस्तीन का साँप होना : कपटी मित्र

28. आकाश के तारे तोड़ना : असंभव कार्य करना

29. आसमान से बातें करना: बहुतऊँचा होना

30. आकाश सिर पर उठाना: बहुत शोर करना

31. आकाश पाताल एक करना : कठिन प्रयत्न करना

32. आँख का काँटा होना : बुरा लगना

33. आँसू पीकर रह जाना : भीतर ही भीतर दुःखी होना

34. आठ-आठ आँसू गिराना: पश्चाताप करना

35. इधर-उधर की हाँकना : बे मतलब की बातें करना

इतिश्री होना : समाप्त होना

ऐसे वाक्यांश, जो सामान्य अर्थ का बोध न कराकर किसी विलक्षण अर्थ की प्रतीति कराये, मुहावरा कहलाता है।

अरबी भाषा का 'मुहावरः' शब्द हिन्दी में 'मुहावरा' हो गया है। उर्दूवाले 'मुहाविरा' बोलते हैं। इसका अर्थ 'अभ्यास' या 'बातचीत' से है। हिन्दी में 'मुहावरा' एक पारिभाषिक शब्द बन गया है। कुछ लोग मुहावरा को रोजमर्रा या 'वाग्धारा' कहते है।
मुहावरा का प्रयोग करना और ठीक-ठीक अर्थ समझना बड़ा ही कठिन है, यह अभ्यास और बातचीत से ही सीखा जा सकता है। इसलिए इसका नाम मुहावरा पड़ गया

मुहावरे के प्रयोग से भाषा में सरलता, सरसता, चमत्कार और प्रवाह उत्पत्र होते है। इसका काम है बात इस खूबसूरती से कहना की सुननेवाला उसे समझ भी जाय और उससे प्रभावित भी हो।

यहाँ पर कुछ प्रसिद्ध मुहावरे और उनके अर्थ वाक्य में प्रयोग सहित दिए जा रहे है।

(अ, आ)

अक्ल पर पत्थर पड़ना (बुद्धि भष्ट होना)- विद्वान और वीर होकर भी रावण की अक्ल पर पत्थर ही पड़ गया था कि उसने राम की पत्नी का अपहरण किया।

आँख भर आना (आँसू आना)- बेटी की विदाई पर माँ की आखें भर आयी।

आँखों में बसना (हृदय में समाना)- वह इतना सुंदर है की उसका रूप मेरी आखों में बस गया है।

अंक भरना (स्नेह से लिपटा लेना)- माँ ने देखते ही बेटी को अंक भर लिया।

अंग टूटना (थकान का दर्द)- इतना काम करना पड़ा कि आज अंग टूट रहे है।

अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनना (स्वयं अपनी प्रशंसा करना)- अच्छे आदमियों को अपने मुहँ मियाँ मिट्ठू बनना शोभा नहीं देता।

अक्ल का चरने जाना (समझ का अभाव होना)- इतना भी समझ नहीं सके ,क्या अक्ल चरने गए है ?

अपने पैरों पर खड़ा होना (स्वालंबी होना)- युवकों को अपने पैरों पर खड़े होने पर ही विवाह करना चाहिए।

अक्ल का दुश्मन (मूर्ख)- राम तुम मेरी बात क्यों नहीं मानते, लगता है आजकल तुम अक्ल के दुश्मन हो गए हो।

अपना उल्लू सीधा करना (मतलब निकालना)- आजकल के नेता अपना उल्लू सीधा करने के लिए ही लोगों को भड़काते है।

आँखे खुलना (सचेत होना)- ठोकर खाने के बाद ही बहुत से लोगों की आँखे खुलती है।

आँख का तारा - (बहुत प्यारा)- आज्ञाकारी बच्चा माँ-बाप की आँखों का तारा होता है।

आँखे दिखाना (बहुत क्रोध करना)- राम से मैंने सच बातें कह दी, तो वह मुझे आँख दिखाने लगा।

(ई)

ईंट से ईंट बजाना (युद्धात्मक विनाश लाना)- शुरू में तो हिटलर ने यूरोप में ईट-से-ईट बजा छोड़ी, मगर बाद में खुद उसकी ईंटे बजनी लगी।

ईंट का जबाब पत्थर से देना (जबरदस्त बदला लेना)- भारत अपने दुश्मनों को ईंट का जबाब पत्थर से देगा।

ईद का चाँद होना (बहुत दिनों बाद दिखाई देना)- तुम तो कभी दिखाई ही नहीं देते, तुम्हे देखने को तरस गया, ऐसा लगता है कि तुम ईद के चाँद हो गए हो।

इधर-उधर करना- (टालमटोल करना)

इन्द्र का अखाड़ा-(ऐश-मौज की जगह)

(उ, ऊ)

उड़ती चिड़िया पहचानना (मन की या रहस्य की बात ताड़ना)- कोई मुझे धोखा नही दे सकता। मै उड़ती चिड़िया पहचान लेता हुँ।

उन्नीस बीस का अंतर होना (एक का दूसरे से कुछ अच्छा होना)- दोनों गाये बस उन्नीस-बीस है।

उलटी गंगा बहाना (अनहोनी हो जाना)- राम किसी से प्रेम से बात कर ले, तो उलटी गंगा बह जाए।

(ए, ऐ)

एक आँख से देखना (बराबर मानना)- प्रजातन्त्र वह शासन है जहाँ कानून मजदूरी अवसर इत्यादि सभी मामले में अपने सदस्यों को एक आँख से देखा जाता है।

एक लाठी से सबको हाँकना (उचित-अनुचित का बिना विचार किये व्यवहार)- समानता का अर्थ एक लाठी से सबको हाँकना नहीं है, बल्कि सबको समान अवसर और जीवन-मूल्य देना है।

एक से तीन बनाना- (खूब नफा करना)

एक आँख न भाना- (तनिक भी अच्छा न लगना)

एक न चलना- (कोई उपाय सफल न होना)

एँड़ी-चोटी का पसीना एक करना- (खूब परिश्रम करना)

(ओ, औ)

ओखली में सिर देना- इच्छापूर्वक किसी झंझट में पड़ना, कष्ट सहने पर उतारू होना)

ओस के मोती- (क्षणभंगुर)

लोकोक्ति, कहावत और मुहावरे में अंतर

मुहावरे की तरह लोकोक्ति भी लोक से उत्पन्न लोक की सम्पत्ति है। लोकोक्ति और मुहावरे में सबसे बड़ा अन्तर यह है -

- मुहावरे वाक्यांश हैं, तो कहावतें (लोकोक्ति) सम्पूर्ण वाक्य।
- मुहावरों का प्रयोग स्वतन्त्र रूप से नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत कहावतों का प्रयोग स्वतन्त्र रूप में होता है।
- मुहावरे का प्रयोग भाषा को बल देने के लिए होता है, तो कहावतों का प्रयोग किसी घटना विशेष पर किया जाता है।
- मुहावरे के प्रयोग के फलस्वरूप भाषा समृद्ध होती है, तो कहावतों के प्रयोग से फल प्राप्त होने की आशा की जाती है।

मुहावरे और लोकोक्ति में कोई साम्य है तो इतना कि दोनों की उत्पत्ति लोक से होती है। दोनों हमारी लोक-संस्कृति के परिचायक हैं। दोनों का प्रयोग भाषा में सजीवता और सरसता लाने के लिए होता है। दोनों के अर्थ सामान्य से भिन्न आैर लाक्षणिक होते हैं।

मुहावरों और लोकोक्तियों में बड़ा अंतर है। मुहावरा किसी वाक्य का अंश मात्र होता है। उसका स्वतंत्र रूप से व्यवहार नहीं किया जा सकता । जबकि लोकाक्तियां पूर्ण वाक्य होती है। उनका प्रयोग स्वतंत्र रूप से भी हो सकता हैं। किसी कथन का समर्थन करने के लिए उदाहरण के रूप में अलग से उनका व्यवहार किया जाता है। मुहावरे गद्यात्मक होते हैं परन्तु लोकोक्तियां गद्य और पद्य दानों में हो सकती है। दोनों का आकार लघु होता है। परंतु मुहावरों का स्वरूप लघुत्तर होता है। विश्व की सभी भाषाओं में लोकोक्तियों का प्रचलन है। प्रत्येक समाज में प्रचलित लोकोक्तियां अलिखित कानून के रूप में मानी लिखी गयी है।

1. तलवे चाटने-(खुशामद करना)-तलवे चाटकर नौकरी करने से तो कहीं डूब मरना अच्छा है।

2. नौ-दो ग्यारह होना-(भाग जाना)- बिल्ली को देखते ही चूहे नौ-दो ग्यारह हो गए। 28. फूँक-फूँककर कदम रखना-(सोच-समझकर कदम बढ़ाना)-जवानी में फूँक-फूँककर कदम रखना चाहिए।

3. बाल-बाल बचना-(बड़ी कठिनाई से बचना)-गाड़ी की टक्कर होने पर मेरा मित्र बाल-बाल बच गया।

4. मिट्टी खराब करना-(बुरा हाल करना)-आजकल के नौजवानों ने बूढ़ों की मिट्टी खराब कर रखी है।

5. लोहे के चने चबाना-(बहुत कठिनाई से सामना करना)- मुगल सम्राट अकबर को राणाप्रताप के साथ टक्कर लेते समय लोहे के चने चबाने पड़े।

6. विष उगलना-(बुरा-भला कहना)-दुर्योधन को गांडीव धनुष का अपमान करते देख अर्जुन विष उगलने लगा।

7. श्रीगणेश करना-(शुरू करना)-आज बृहस्पतिवार है, नए वर्ष की पढाई का श्रीगणेश कर लो।कुछ प्रचलित लोकोक्तियां

1. अधजल गगरी छलकत जाए-(कम गुण वाला व्यक्ति दिखावा बहुत करता है)- श्याम बातें तो ऐसी करता है जैसे हर विषय में मास्टर हो, वास्तव में उसे किसी विषय का भी पूरा ज्ञान नहीं-अधजल गगरी छलकत जाए।

2. अब पछताए होत क्या, जब चिड़ियाँ चुग गई खेत-(समय निकल जाने पर पछताने से क्या लाभ)- सारा साल तुमने पुस्तकें खोलकर नहीं देखीं। अब पछताए होत क्या, जब चिड़ियाँ चुग गई खेत।

3. घर का भेदी लंका ढाए-(आपसी फूट के कारण भेद खोलना)-कई व्यक्ति पहले कांग्रेस में थे, अब जनता (एस) पार्टी में मिलकर काग्रेंस की बुराई करते हैं। सच है, घर का भेदी लंका ढाए।

4. जिसकी लाठी उसकी भैंस-(शक्तिशाली की विजय होती है)- अंग्रेजों ने सेना के बल पर बंगाल पर अधिकार कर लिया था-जिसकी लाठी उसकी भैंस।

5. जल में रहकर मगर से वैर-(किसी के आश्रय में रहकर उससे शत्रुता मोल लेना)- जो भारत में रहकर विदेशों का गुणगान करते हैं, उनके लिए वही कहावत है कि जल में रहकर मगर से वैर।

मौसम के रंग लोकाक्ति, कहावत और मुहावरों के संगः–

आजकल तो विज्ञान के बलबूते मौसम का पूर्वानुमान बड़ी आसानी से लगाया जा रहा है। लेकिन, प्राचीनकाल में जब वैज्ञानिक तकनीकों का नितांत अभाव था, तब हमारे पूर्वज मौसम का बेहद सटीक पूर्वानुमान लगा लिया करते थे। यह तथ्य चौंकाने वाला बेशक हो, लेकिन हकीकत है। खास बात यह है कि मौसम को पूर्वानुमान लगाने में कई बार विज्ञान चूक जाता है, लेकिन, हमारे बुजुर्गों के मौसम सम्बंधी अनुमान बेहद अचूक रहे। इस वर्ष वैज्ञानिकों ने मानसून सम्बंधी पूर्वानुमान लगाया था कि इस बार मानसून 106 फीसदी रहेगा और छह दिन देर से आयेगा। शुरूआती दौर में यह अनुमान शतप्रतिशत सही साबित होता दिखाई नहीं दे रहा है।

कई जगह पर मानसून उम्मीद से कहीं ज्यादा देर से आया है। अब कितने प्रतिशत वर्षा होगी, यह तो मानसून जाने के बाद ही पता चल सकेगा। लेकिन, वर्षा सम्बंधी अनुभवों के बाद बुजुर्गों ने कई ऐसे लक्षण चिन्हित किए थे, जो हमेशा सच साबित हुए।

बड़े बुजुर्ग वर्षा का पूर्वानुमान प्राकृतिक लक्षणों के आधार पर भलीभांति लगाते रहे हैं। उनके अनुभवों के अनुसार यदि सूर्योदय के समय सूर्य की तेज धारीदार कांति हो तो 48 घण्टे के अंदर निश्चित तौरपर वर्षा होगी। बुजुर्ग बिल्कुल साफ आकाश में तेज चमकते व झिलमिलाते तारों को भी वर्षा आने का सूचक मानते आए हैं। बुर्जुग लोग तो आक के पौधों पर लगी डोडियों से भी वर्षा का सटीक अनुमान लगा लेते हैं। उनका आज भी मानना है कि यदि गाय रूंग (रोएं) पाड़ जाएं, चींटियां अपने अंडों को लेकर ऊपर की तरफ प्रस्थान करने लग जाएं, मेंढकी टर्राएं, पपीहा पक्षी शोर मचाये, चिड़िया बालू रेत में नहाने लगें, घर में रखा नमक, गुड़ आदि चीजें पसीजने लग जायें, सण (रेशा) की खाट स्वतः अकड़ जाये, गोह (एक वन्य प्राणी) बोलने लगे, सूरज पर कुंडल छा जाये और चन्द्रमा पर जुलहरी बन जाए तो वर्षा निश्चित तौर पर चैबीस से अड़तालीस घण्टे में होगी।

बुजुर्ग लोगों का अनुभव कहता है कि बैया पक्षी वृक्ष के जिस तरफ घोंसला बनाता है, उसकी विपरित दिशा की तरफ से ज्यादा वर्षा होगी। जब मछलियां जल की सतह पर छलांग मारें, बिल्ली भूमि खोदे, सांपों का जोड़ा व

पशु आकाश की ओर देखे, पालतू पशु बाहर जाने से घबराएं तो तुरंत ही वर्षा होती है। ये वर्षा के लिए शुभ शकुन माने जाते हैं। बुजुर्ग लोग ऐसा विश्वास करते हैं कि यदि रात्रि में दीपकीट दिखाई दे, कीड़े या सरीसृप घास के ऊपर बैठें तो भी तत्काल वर्षा होती है। यदि वर्षा ऋतु के दौरान सायंकाल में गीदड़ों की चिल्लाहट सुनाई दे तो बिल्कुल वर्षा नहीं होती है। यदि आसमान बादलों से घिरा हो व पालतू कुत्ता घर से बाहर न जाए, तो वर्षा जरूर होगी। यदि आसमान में चील काफी ऊंचाई पर उड़ रही हो, तो भी वर्षा होने वाली होती है। यदि मकड़ी घर के बाहर जाला बनाए तो यह वर्षा ऋतु जाने का संकेत है। मेढकों की टर्रराहट वर्षा का संकेत है। मोर का नृत्य तथा शोर भी वर्षा का सूचक है।

इसी तरह, बुजुर्गों द्वारा वर्षा सम्बंधी अनुमान लगाने वाले अनेक मुहावरे एवं लोकोक्तियां भी बेहद प्रचलित हैं। गाँव-देहात के लोग वर्षा के सन्दर्भ में आज भी अपने अनुभवों, लोकोक्तियों एवं मुहावरों के रूप में प्रचलित अचूक अनुमानों, एवं सामान्य प्राकृतिक लक्षणों को अधिक अहमियत देते हैं। लोक संस्कृति में वर्षा/मानसून के मौसम को 'सामण' या 'सावन' या फिर 'श्रावण' माह के नाम से जाना जाता है। सुखद आश्चर्य की बात है कि पुराने लोगों व ऋषि-मुनियों, तपस्वियों, योगियों द्वारा अनुभव के बाद तय किए गए निष्कर्ष व अनुमान आज तक अचूक बने हुए हैं। वर्षा होने या न होने संबंधी लाक्षणिक कहावतें व लोकोक्तियां आज भी अक्षरशः खरी उतरती हैं। उन कहावतों व लोकोक्तियों की एक बानगी यहां प्रस्तुत है-

तपे जेठ।
वर्षा हो भरपेट।।
(अर्थात, ज्येष्ठ मास में जितनी ज्यादा गर्मी व लू पड़ेगी, उतनी ही ज्यादा वर्षा होगी। ज्येष्ठ मास तपने पर वर्षा भरपूर होती है।)

उतरे जेठ जो बोले दादर।
बिन बरसे ना जाए बादर।।

(अर्थात, यदि उतरते ज्येष्ठ मास मेंढक टर्राएं तो समझना चाहिए कि बादल बिना बरसे नहीं जाएंगे। इसका मतलब खूब वर्षा होगी।)

सावन पहली दशवीं जै रोशनी होए।
बड़ा सम्मत निपजे चिंता करने ना कोए।।
(अर्थात, यदि सावन लगते ही दसवीं तिथि को रोशनी नक्षत्र हो तो अच्छी वर्षा होगी और अकाल संबंधी कोई आपदा नहीं आएगी।)

पच्छम चमकै बिजली अर उद्गम चालै बाल।
कह जाट सुण जाटणी बिस्तर खटिया घाल।।
(अर्थात, पश्चिम दिशा में बिजली चमकने व पूर्व
दिशा से हवा चलने पर जाट किसानी अपनी पत्नी से बिस्तर घर के अंदर लगाने के लिए कहता है, क्योंकि ये दोनों लक्षण वर्षा होने के हैं।)

पहली पवन पूर्व से आवे।
बरसे मेघ अन्न भर लावै।।
(अर्थात, यदि मानसून की पहली हवा पूर्व दिशा से आए तो समझना चाहिए कि खूब वर्षा होगी और खूब अन्न उत्पादित होगा।)

शनिचर की झड़ी।
कोठा ना कड़ी।
(अर्थात, यदि शनिवार के दिन वर्षा शुरू हो जाये तो समझिए कि लगातार कई दिन तक वर्षा होगी, जिससे मकान की छत को भी खतरा हो सकता है।)

लोकाक्ति, कहावत और मुहावरों में नारी

भारतीय समाज में सदैव ही नारी का विशिष्ट स्थान रहा है। समाज का कोई भी पक्ष हो नारी की उपस्थिति अपेक्षित रही है। कहावतों का संसार भी नारी की व्यंजना से समृद्ध हुआ है। किसी भी समाज में नारी की वास्तविक स्थिति समझने के लिए, कन्या-जन्म के प्रति उस समाज की प्रतिक्रिया सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। पुत्र के कारण वंश-परंपरा चलती है और अंधविश्वासी भारतीयों की दृष्टि में वह अपने मृत पूर्वजों को तारने में भी सहायक होता है। यही कारण है कि पुराकाल से ही भारतीय समाज में पुत्री की अपेक्षा पुत्र को अधिक महत्त्व दिया जाता रहा है।

हिंदू-लोकविश्वास के अनुसार कन्या के दर्शन होना एक शुभ शकुन है। किंतु, ऋग्वेद से प्रारंभ करके आधुनिक काल के प्रथम दशक तक का हिंदू-समाज अपने यथार्थ जीवन में कन्या के प्रति विमुख और उदासीन रहा है। प्राचीन साहित्य और लोक-साहित्य में भी ऐसे विभिन्न प्रसंग मिलते हैं, जिनमें कन्या के जन्म को परिवार के लिए दुःखद घटना माना गया है। सायणाचार्य ने भी कहा हैः ‘‘वह ;कन्या जन्म के समय अपने स्वजनों को दुःख देती है, विवाह के धन का हरण करती है, यौवन में अनेक दोषों से कुल को दूषित करती है और इस प्रकार कन्या मता-पिता का हृदय विदीर्ण करने वाली होती है।’’ ‘बेटी भली न एक’ यह कहावती अंश प्रायः उत्तरी भारत में सर्वत्र प्रचलित है।

‘‘बेटी का बाप’’ तो एक ऐसा कहावती पदांश है जिसका प्रयोग किसी व्यक्ति के हीन भाव को प्रकट करने के लिए होता है।उत्तर-प्रदेश और बिहार में तो ऐसी प्रथा है कि घर में जब पुत्र का जन्म होता है तो फूल या काँसा का थाल बजाकर उसका स्वागत किया जाता है किंतु, उसी घर में यदि कन्या का आगमन हो तो उदासी का वातावरण छा जाता है। परिवार में भी उस नारी का विशेष सम्मान होता है, जो पुत्र-प्रसविनी होती है अथवा उसकी संतति से वंश चलने की संभावना रहती है।

जे पेट के आस उहे बिआइल बेटी।
अर्थात्, जिस गर्भ से पुत्र होने की आशा थी, उसी से बेटी उत्पन्न हुई।

बिन मारे बेटी मरे, खाढ़े उफखि बिकाय।
बिन मारे मुदई मरे, ता पर देव सहाय।।

जिसके पुत्री की बचपन में मृत्यु हो जाय, खेत में ईख बिक जाय और बिना मारे दुश्मन की मृत्यु हो जाय, तो समझना चाहिए कि देवता उसके सहायक हैं।

बिप्र टहलुआ चीक धन ओ बेटी के बाप।
एहु से धन ना घटे, त करीं बड़न से रार।
ब्राम्हण को नौकर रखने, कसाई का धन लेने और बेटी का पिता बनने से भी यदि धन की हानि नहीं होती है, तो अपने से बड़ी हैसियतवाले व्यक्तियों से झगड़ा मोल लेना चाहिए।

बेटा ए गो कुल राखेला, बेटी दूनो कुल राखेले।
पुत्र पर एक कुल ;पितृ-कुल के सम्मान का दायित्व रहता है और बेटी पर दोनों कुलों ;पितृ-कुल एवं पति का कुल के सम्मान का भार रहता है।

भारतीय इतिहास में ऐसा भी युग था, जब नारी को पुरूषों के समान ही उपनयन, वेदाध्ययन आदि का अधिकार था इतना ही नहीं, ऋग्वेद में तो ऐसी बहुत-सी ऋचाएँ हैं जो स्त्रियों द्वारा निर्मित हैं। उपनिषद्-युग में गार्गी और मैत्रयी जैसी स्त्रियाँ आध्यात्मिक वाद-विवाद में सक्रिय भाग लिया करती थीं। कन्या को अपना वर स्वयं वरण करने की स्वतन्त्रता थी। किंतु, धीरे-धीरे समाज स्त्री के प्रति कठोर होता चला गया और नारी की स्थिति में परिवर्तन होने लगा, क्रमशः वह पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ दी गई। बाल-विवाह के कारण अध्ययन भी अत्यंत सीमित हो गया। वेद-पाठ स्त्री के लिए निषिद्ध हो गया। घर ही अब उसका प्रमुख क्षेत्र रह गया, संसार से उसका संबंध विच्छिन्न होने लगा। पुरूष का सामाजिक स्तर उँचा हो गया, स्त्री की स्वतंत्रता जाती रही, जन्म से मरण पर्यन्त उसे रक्षणीय ठहरा दिया गया

मैं समझता हूं, सिंधी एवं भोजपुरी कहावतों में नारी-चित्रण विषय पर चिंतन मनन करते समय हमें समाज में परिवार की बुनावट पर ध्यान केंद्रित करना होगा| हम सभी इस तथ्य से भलीभांति परिचित हैं कि परिवार भारतीय समाज की आधारभूत संस्था है| इसका प्राचीन काल से ही अस्तित्व रहा है| स्त्री व पुरुष इस संस्था के प्रमुख अंग हैं| परिवार ही स्त्री पुरुष के मध्य यौन संबंध को सुनिश्चित और नियमित करता है| यह संतति के पोषण तथा शिक्षण के लिए अपेक्षित वातावरण भी

प्रस्तुत करता है| समासत: परिवार समाज के आर्थिक, धार्मिक तथा नैतिक जीवन को संतुलित एवं संवर्धित करता है|

एक समय था जब समाज में 'संयुक्त परिवार' का ही चलन था अर्थात माता-पिता, भाई- बहन, पौत्र-पौत्रिया, चाचा-चाचियां, चचेरे भाई-चचेरी बहनें इत्यादि एक परिवार के सदस्यों की भांति रहते थे परंतु समय के साथ -साथ विभिन्न कारणों से ऐसी प्रथा समाप्त होती जा रही है| वर्तमान परिस्थितियों में, विशेषकर शहरी संस्कृति के प्रभाव के कारण एक ही परिवार के सदस्य रोजगार की तलाश में विभिन्न शहरों में जाकर नौकरी-व्यापार करने लगे हैं, जिस कारण संयुक्त परिवार का ढांचा प्राय: टूटने लगा है| ऐसा होते हुए भी घर-परिवार के महत्व में कमी नहीं आई है; बल्कि संबंधों में प्रगाढ़ता स्थायी रूप से विद्यमान है| सिंधी भाषा में इस भाव को प्रकट करने वाली कहावतें देखें-कुडम कबीले खां शालं कुतो बि धार न थिए (अर्थात अपने कुटुंब या परिवार से काश कोई कुत्ता भी अलग न हो क्योंकि हे प्रभु, परिवार से अलग रहने पर अत्यधिक कष्ट होता है), सजणु हुजनि साणु त झंग अंदर बि सोनी खाण (अर्थात यदि परिवार के सभी सदस्य एक साथ जंगल में भी रहते हैं तो वहां भी आनंद प्राप्त करते हैं), पंहिंजा नेठि बि पंहिंजा (अर्थात संबंध में कटुता आने के बाद भी अपने सगे अपने ही होते हैं), पंहिंजे घर जहिडी का बी बादशाही (अर्थात अपने घर जैसी बादशाहत कहीं और नहीं होती)| ऐसे अपनत्व के भावों को अग्रसारित करते हुए सिंधी समाज ने कहावत में विचार प्रकट किए- पंहिजों घरु दाता जो दरु (अर्थात अपना घर प्रभु का दर यानि मंदिर होता है|)

राजस्थानी कहावतों में संयुक्त परिवार को लक्ष्य में रख कर निम्न भाव प्रकट होते हैं:-बंधी माटी लाख की, खुल्ली बीखर ज्याय| अभिप्राय यह है कि संयुक्त परिवार में रहने से प्रतिष्ठा बनी रहती है, भाइयों के अलग-अलग हो जाने से इज्जत जाती रहती है किंतु शहरों में प्राय: देखा जाता है कि संयुक्त कुटुंब में रह कर निर्वाह करना कठिन हो जाता है| इसीलिए राजस्थानी कहावत में उल्लिखित हैं- कलकत्ते रो धारो, बाप सूं बेटो न्यारो (अर्थात कलकत्ते की यही प्रथा है कि पिता से पुत्र अलग हो जाता है)|

भारतीय समाज ने संयुक्त परिवार की संस्कृति में पुरुष के रुप में 'पिता' को तथा स्त्री के रूप में 'माता' को सर्वोच्च सम्मान प्रदान किया है| भोजपुरी में कहा गया है-बापे पूत परापत घोडा ना कुछुम तऽ थोडम थोडा (अर्थात पुत्र और घोड़े पर पिता के

गुण-दोष का प्रभाव पड़ता है)| सिंधी में- संत उहो जो घाउ सहे पीउ उहो जो बारु सहे| (अर्थात संत वही होता है जो समाज के हित में कष्ट सहन करता है तथा पिता वही होता है जो परिवार के हित में कष्टों को सहन करता है) माता नारी जीवन का सार्थक व महान रूप है इसीलिए तैत्तरीय उपनिषद में 'मातृदेवो भव' अर्थात माता को देवता कहा गया है| भोजपुरी में कहावत देखिए- मग्धा बरसे-माता परसे-भूखा न तरसे- अर्थात मघा नक्षत्र की वर्षा और माता के स्पर्श से सभी क्षुधा और ताप समाप्त हो जाते हैं| सिंधी कहावत में माता की ममता को निम्न प्रकार रेखांकित किया गया है- बे मुन्दो बहार मिले माता जी गोद में (अर्थात मां का स्नेह बच्चों को सदैव प्राप्त होता रहता है, इसके लिए किसी मौसम-विशेष की प्रतीक्षा नहीं करनी पडती है)|

वैदिक युग से लेकर आज तक भारतीय समाज में यह भावना जीवित है कि पुत्र को जन्म देने से व्यक्ति पितृ-ऋण से मुक्त हो जाता है अर्थात पुत्र अपने पूर्वजों को पिंड दान देकर संतुष्ट करता है| पुत्र के माध्यम से वंश- परंपरा भी चलती रहती है| इस पर सिंधी में कहा गया है कि पुट जाए खां पोइ पुठि पधिरी थिए थी अर्थात पुत्र उत्पत्ति के पश्चात ही वंश आगे बढ़ता है| दूसरी तरफ पुत्री के जन्म को नापसंद करते हुए कहा गया है कि पुटु जाओ त मूं जणियों, धीअ जाई त तो जणी (अर्थात पुरुष अपनी पत्नी से कहता है कि पुत्र उत्पन्न हुआ तो मैंने जना है और पुत्री उत्पन्न हुई तो तुमने जनी है|) राजस्थानी कहावत में -बेटी जाम जमारी हाइयो (अर्थात पुत्री को जन्म देकर जीवन ही व्यर्थ खो दिया) कहा गया है|

पुत्री जन्म को लेकर भोजपुरी कहावतों के भाव देखें- जे पेट के आस उहे बिआइल बेटी (अर्थात जिस गर्भ से पुत्र होने की आशा थी, उसी से बेटी उत्पन्न हुई), बिन मारे बेटी मरे, खाढे उखि बिकाय, बिन मारे मुदई मरे, तो पर देव सहाय| (अर्थात जिसकी पुत्री की बचपन में मृत्यु हो जाए, खेत में ही ईख बिक जाए और बिना मारे दुश्मन की मृत्यु हो जाए तो समझना चाहिए देवता उसके सहायक हैं)| ऐसे चिंतन का कारण सामाजिक ढांचा एवं सामाजिक कुरीतियां हैं| इन कुरीतियोंं में प्रमुख दहेज की प्रथा है| पिता अपनी पुत्री के विवाह में दहेज देने के लिए कर्ज लेने से भी नहीं घबराता| पुत्री के वैवाहिक तथा पारिवारिक जीवन को सुखमय बनाने हेतु पिता हर प्रकार के प्रयत्न करता है 'अबो गसे धीअ वसे' अर्थात बाबा घिसते हैं बेटियां बसती हैं-का भाव प्रकट किया गया है; परंतु विवाहोपरांत वह चिंतामुक्त या दायित्वमुक्त हो जाता है, ऐसा नहीं हैं, बल्कि विवाह

के पश्चात भी उसे पुत्री के ससुराल-पक्ष को उपहार देते रहना पड़ता है| यदि वह ऐसा नहीं कर पाता है तो उसकी पुत्री को व्यंग्य -बाणी का सामना करना पड़ता है|

उदाहरणार्थ-'सुत्रे अबे जाई, छज छंडीदी आई'(अर्थात निर्धन पिता की पुत्री खाली सूप छानते हुए आई है अर्थात खाली हाथ आई है),'सुत्रनि अबाणनि धूड मुर्कनि धीअरु'(अर्थात निर्धन पिता की पुत्री क्या खाक मुस्कुराएगी)| इसलिए ऐसे कठोर व्यंग्य-बाणों की बौछार से बचने के लिए लड़की के माता- पिता अपनी सामर्थ्य से अधिक पुत्री के ससुराल पक्ष वालों को अर्थात अपने समधी को सदैव प्रसन्न रखने का प्रयास करते हैं| वे कहते हैं-'सेण आहिनि नेण' (अर्थात समधी तो हमारी आंखें हैं (जिसके बिना हम अंधे हैं) तथा 'सेणनि जा गाल्हाईनि नेण न कि डंद'(अर्थात समधी के सिर्फ नयन बोलते हैं दांत नहीं)

ऐसी परिस्थिति में माता-पिता अपनी पुत्री को सदैव यह शिक्षा देते हैं कि तुम विवाहोपरांत ससुराल-पक्ष के ही व्यवहारों, रहन-सहन के ढंग को अपना लो, जिससे वहां सभी तुमसे प्रसन्न रह सके तथा साथ ही साथ तुम भी अपना जीवन कुशलता से व्यतीत कर सको| इस पर कहावत है-'धी अडी सो करि जो डिठुइ माउ घरि, नूंहंडी सो करि जो डिठुइ ससु घरि|' (अर्थात बेटी, तुम मायके में मायके जैसा तथा ससुराल में ससुराल जैसा व्यवहार करो)|

हमारे जीवन एवं दिनचर्या में लाकोक्ति कहावतें और मुहावरों का प्रभाव :–

हम दिन प्रतिदिन के जीवन में अपनी बातचीत में कई बार लोकोक्तियों और मुहावरों का भी प्रयोग करते हैं। कहावतें हमारे लोक जीवन का प्रतिबिंब होती हैं और जीवन के सत्य को प्रकट करती हैं। उनमें सदाचार की प्रेरणाएं होती हैं। इन्हें हम असल में ग्रामीण जीवन का नीति शास्त्र भी कह सकते हैं। नीति वाक्य या कहें कि कहावतें-लोकोक्तियां सदाचार के लगभग सभी गुणों- यम, नियम, धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इंदिय विग्रह, परहित, बुद्धि, विद्या, सत्य आदि आदि को संजोये हुए होती हैं। जैसे 'मन जीते जग जीत है' यह कहावत इंद्रिय दमन के सत्य को उजागर करती है। इंदिय दमन से सुख अथवा दुख के वातावरण में एक समान भाव के साथ बने रहने की शिक्षा मिलती है। दुर्गुणों और दुर्व्यवसनों से सुरक्षित रहने के लिए 'दमन' अभेद्य कवच है। वश में किया गया मन मानव का मित्र है और इसके अभाव में मन ही मानव का शत्रु है। ऐसी ही एक कहावत है- 'सत्य की सदा जीत होती है'। यह कहावत गीता के 'सत्यमेव जयते' की उद्घोषक है।

सच की महत्ता को इसी तरह की कुछ अन्य कहावतों में भी स्थापित किया गया है, जैसे 'पल्ले होवे सच्च, तां नंगा होके नच्च।' 'सांच को आंच कहां?', 'सच्चे का बोलबाला, झूठे का मुंह काला।' लोकोक्तियों में सत्य पालन की नैतिकता सदैव प्रशंसनीय माना गया है। 'शौच' के विषय में भी कई कहावतें मिलती हैं। शौच का अभिप्राय बाह्य और आंतरिक शुद्धता से है। स्वस्थ, सभ्य एवं सुसंस्कृत बनने के लिए शौच की बहुत उपयोगिता है। 'प्रात:काल करो अस्नाना, रोग दोष तुमको नहीं आना'- इस कहावत में ब्रह्मा मुहूर्त में सोकर उठने और दैनिक क्रियाओं से निवृत्त होने का वर्णन है। 'एक हवा, न सौ दवा' कहावत का अभिप्राय सिर्फ शुद्ध वायु सेवन ही नहीं है, बल्कि प्राचीन काल में लोग इसके जरिए तुलसी, गुलाब के पौधे तथा बड़, पीपल और नीम के वृक्ष लगाने और उनकी रक्षा करने का परामर्श देते थे। 'मन चंगा तो कठौती में गंगा' कहावत से मानसिक शुद्धता की जरूरत दर्शाई गई है। आंतरिक शुद्धता से आत्मा का विकास होता है और विकसित आत्मा ही परम तत्व को पाने में सक्षम होती है। परोपकार एवं परहित की कहावतें भी कम नहीं हैं। 'कर भला हो भला, अंत भले का भला'- यह कहावत परमार्थ की सिद्धि होने में सभी का भलाई का उद्घोष करती है। कहावतों में 'धैर्य' रूपी नैतिक मूल्य का बड़ा गुणगान किया गया है। इनके

माध्यम से लोगों को धीर-गंभीर बनने के लिए उत्साहित किया गया है। 'धीरा सो गंभीरा, उतावला सो बावला'- जल्दी का काम सदा ही बिगड़ता है क्योंकि उतावलेपन में हमारी बुद्धि गहराई से सोचने में असमर्थ होती है। इसी सच को यह कहावत भी उजागर करती है- 'हड़बड़ का काम गड़बड़'। अपने मनोबल, उत्साह एवं साहस को बनाए रखना, विवेक शक्ति की दृढ़ता की स्थिरता ही धैर्य का दूसरा नाम है। 'हिम्मते मरदा, मददे खुदा', यह कहावत धैर्य बंधाती है। धैर्य तो असाध्य को भी साध्य बना देता है।

अस्तेय (चोरी न करना)- एक आवश्यक नैतिक कर्म है। इस सिलसिले में 'चोरी की सजा मौत' जैसी कहावत मानव को सावधान करती है। इसी तरह 'चोरी का माल मोरी में' कहावत कहकर यह साबित करने का प्रयास किया गया है कि चुराए हुए धन-संपत्ति का व्यय बुरे कामों व दुर्व्यसनों में होता है। 'चोर की दाढ़ी में तिनका'- चोर तनाव में होने से सदैव भयभीत एवं शक्ति रहता है। 'चोर की नार जनम भर दुखियो ही रहती है।' 'क्षमा' के नैतिक मूल्य को भी कहावतों में सहजता से देखा जा सकता है। क्षमा का उद्देश्य है अपराधी को आत्म परिष्कार का अवसर देना। 'क्षमा वीरों का आभूषण है', क्षमा के बल पर ही यह धरती टिकी है। अत: 'क्षमा बड़न' को चाहिए ही। 'अधजल गगरी छलकत जाए' और 'अपना पैसा खोटा तो परखैया को क्या दोष'- ये दोनों कहावतें अधूरे ज्ञान और दुर्गुणों, दोषों को दूर करने की प्रेरणा देती हैं। ऐसी असंख्य कहावतें पग-पग पर नैतिकता के दीप जला कर हमारा मार्गदर्शन आलोकित कर सकती हैं। नीति शास्त्र का अध्ययन किए बिना भी हम कहावतों के द्वारा नैतिकता को सीख और अपनाकर, अपना जीवन मार्ग निष्कंटक बना सकते हैं।

सामाजिक जीवन एवं शादी विवाह, रीति–रिवाज में समाहित लाकोक्ति कहावतें और मुहावरे :–

1:**अम्मा कहेली बेटी नीति उठी आइयह**
पापा कहले छौ मास आइयह
भइया कहेले बहिना काजपरोजन
भाभी कहेली जनि आव तुहै//

(मायने- शादी के बाद बेटी को मां कहती है बेटी रोज-रोज आ जाना, पिता कहते हैं छे महीने पर आना, भाई कहते हैं बहन कभी कोई मौका-तीज-त्यौहार पड़े तब आना, भाभी कहती है तुम मत आना,ये शादी के बाद बेटी के प्रति मां का प्यार बताता है।)

2:**बेटा**
मचिया बैठल रउरा अम्मा हे बड़इतीन
जैसन बूझिय आपन धियवा
वैसन बूझियह हे हमरो तिरियवा
मां
-
पुरुब के चांद पश्चिम चली जाइयह
धिया के दुलार पतोह नहीं पाइहें

बहू
-उड़िया के पानी बरेरी चली जाइहें
अवध सिंघोड़वा ननद नहीं पाइहें//

(मायने-शादी के बाद बेटा अपनी पत्नी को लेकर आया है, मां चारपाई पर बैठी है
बेटा- मां जैसे तुम अपनी बेटी को मानती थी उसी तरह मेरी पत्नी को दुलार देना
मां- पूरब का चांद पश्चिम चला जाएगा, मगर बेटी जैसा दुलार बहू नहीं पा सकती
बहू-पानी बहने की जगह उड़कर आसमान की ओर जाने लगेगा लेकिन अब इस घर से ननद को कुछ नहीं मिलेगा)
(शब्द
मचिया-चारपाई, धिया-बेटी, तिरिया-पत्नी, पतोह-बहू, उड़िया-उड़ना, अवध का मतलब

अयोध्या से है, सिंघोड़ा सिंदूर रखने का एक छोटा संदूक नुमा होता है, अवध और सिंघोड़वा को प्रतीक के रूप में इस्तेमाल किया गया है)

पूर्वांचल के ये दोनों ही लोकोक्तियां बेटी और बहू को लेकर बुनी गई हैं। तब के समाज की सोच-संस्कृति, मां की ममता, बेटी और बहू के बीच भेदभाव, इन मुहावरों में सबकुछ है। ये मैंने अपनी मां से फोन पर पूछ कर लिखा है। क्योंकि बातों-बातों में वो बहुत कुछ ऐसा बोल जाती थी, जिसे हम तब समझ नहीं पाते थे।

लाकोक्ति कहावतें और मुहावरों में नाटकीय तत्व :–

बोलचाल की भाषा में बच्चे जरूर कहते हैं ज्यादा नाटक मत कर परन्तु हकीकत यह है कि बच्चे नाटक क्या होता है, अच्छे नाटकों की प्रस्तुती के लिए कौन –कौन से तत्व आवश्यक हैं। इन सब बातों से अनभिज्ञ हैं। स्कुल कॉलेज के वार्षिक समारोहों में नाटकों का स्थान बूगी–बूगी, फैन्सी ड्रेस और अलग – अलग किस्म के वेस्टर्न लटको झटकों ने ले लिया। आज के हिन्दी रंगमंच का आम जनता से संबंध नहीं के बराबर है। शहरों में नाटक मंचित हो रहे हैं। उनका एक खास दर्शक वर्ग है। इसके विपरीत अभी भी ग्रामीण जन– कस्बों में रहने वाला अर्धशहरी पूरी रात जागकर लोक नाटकों का मजा लेते हैं। आम जनता को लोक नाटकों में जो मजा आता है, अपनापन देखने को मिलता है। वह शहरी रंगमंच से गायब है।

लोक नाटकों में पुराने मुहावरे कहावतें और लोकोक्ति, लोक संगीत और आम जीवन की कहानी समाहित होती है। संगीत के बाद नाटक ही एक विद्या है। जो मानव सभ्यता से ही मानव जीवन में अभिव्यक्त हुई है। लोक जीवन में किसी न किसी रूप में नाटक हमेशा से उपस्थित रहा है। चाहे छत्तीसगढ़ का नाचा हो या गम्मत या फिर राजस्थान का देसी नाच, उत्तर प्रदेश की लोक मंडली या नौटंकी या बिहार का विदेशिया सभी में नाटक के तत्व मौजूद हैं।

साभार और आभार

मुहावरा कोश एवं लोकोक्ति कोश – हरिवंश राय शर्मा

★सुभाष मिश्र
★देवनारायण द्विवेदी
★घाघ और भड्डुरी
★वर्षा
★डॉ ओम प्रकाश गुप्त
★अर्चना उपाध्याय – भोजपूरी कहावतों में नारी
★राजेश कश्यप
★मनोहर लाल
★सिंधी एवं भोजपुरी काहवातो में नारी चित्रण : रवि प्रकाश टेक चंदानी
★सिंघी मुहावरा एवं कहावत कोश – डॉ एम. के. जेतली
★भोजपुरी लोकोक्तियाँ – डॉ0 शशिशेखर तिवारी
★रतन सिंह शेखावत
★मुकेश पाण्डे चंदन
★हिन्दी मुहावरे और लोकोक्ति– बदरीनाथ कपूर

तृतीय अध्याय

विभिन्न प्रदेशों के ग्रामीण एवं कस्बाई नाट्य मंडलियों, लोक नाट्य मंडलियों के रंग संगीत एवं वहाँ प्रचलित लाकोक्ति कहावतें और मुहावरों के साथ आम लोंगों का संबंध, संस्कार पारंपरिक त्योहार, उत्सवों पर इसके प्रभाव

विभिन्न प्रदेशो के ग्रामीण एवं कस्बाई रंग मंडलियाँ

कहने को तो हम शेखी बधारते फिरते हैं की जड़ मजबूत होना चाहिए लेकिन इसका पालन हम किस रूप में कितना कर पते हैं ये किसी से छुपा नहीं हैं
अगर हम रंग मंच की ही बात करते हैं इसका जड़ कहा हैं और किस रूप में फलीभूत हो रहा है, रंगमंच का आधार स्तम्भ ग्रामीण एवं कस्बाई रंगमंच, लोक नाट्य मरणाशन स्थिति में है शहरी रंगमंच आधुनिकता के नाम पे रंगमंच से दूर टेकनिकल उबाऊ होता जा रहा है, लोक रंजन मनोरंजन जैसे गायब ही हो गया है .
सरकार जो कुछ भी रंगमंच के लिए थोड़ा बहुत कर रही है उसका लाभ सिर्फ शहरी और कुछ खास लोग ही ले रहे है उनका काम सिर्फ कागजो पर ही हो रहा है लेकिन अभी भी ग्रामीण नाट्य दल चाहे वो जिस परिस्थिति में है अपने बल बुते या कुछ सरकारी अनुदानों के सहयोग से शहरी रंगमंच से बेहतर काम कर रही है इनके रंग मंच में लोक भाषा व्यवहार एवं लोकतत्व अभी भी जिन्दा है चाहे वो मोहवरा लोकोक्ति कहावते का प्रयोग अभी भी सवाद और रंग गीत संगीत में हमेशा करते हैं

ग्रामीण एवं कस्बाई रंगमंडलियाँ

अरुणाचल प्रदेश - चंडगकोई बगाना

असम - रंगालय, शिल्पकानन, आयान , सुरसाधना, अगना, दापोनमीरार, मेक्वेथ ड्रामा एवं शिगल

मणिपुर - पोरशरीपेट्री, प्रश्पेक्टरीब रिपेटरीब, संगीत कला संगम, नार्थ ईस्ट थियेटर, लॉन्ग मेडोंग ड्रामेटिक यूनियन, दा ट्रगल कल्चरल ऑरग्नाजेशन, ओमेन आर्ट कल्चरल एसोसिएशन

बिहार - भारत नाट्य कला केंद्र, सकुंतला सेवा सदन, सुरंगन कला केंद्र , निर्माण कला केंद्र नव तरंग , पांच कोशी, आकाश गंगा रंग चौपाल

बंगाल - लखनचं कल्चर यूनिट , नन्दिकार , रंगकर्मी बहुरूप पदातिक

झारखण्ड - आदि कला धरोहर सांस्कृतिक संस्था , एक्सपोज़र

मध्य प्रदेश - बनाँचल लोक उदय , बुंदेली लोक नृत्य नाट्य कला परिषद् , नया थियेटर , रंग बिदूषक , नट बुंदेली संग सरोकार, अभिनव रंग मंडल

महाराष्ट्र - श्री वैस्नवी महिला व आदिवासी विकाश संस्थान लोक जाग्रति नाट्य कला , लोककल्याणकरी बहुउदेशीय मंडल इत्यादि

बंगाल में रंगमंच का इतिहास और वर्तमान

बांग्ला रंगमंच का दो सौ साल से भी लंबा और समृद्ध इतिहास रहा है। बंगाल में रंगमंच की शुरुआत 1795 में हुई। अठाहरवीं शताब्दी के समाचार पत्रों में छपे विज्ञापन से पता चलता है कि रूसी रंगकर्मी गेरोमिस स्तेपोनोविच लिएबेदेफ 1795 में मद्रास से कलकत्ता आए और डोमतला में उसी साल नवंबर में एक मंच निर्मित कर 'काल्पनिक संवदल' नामक नाटक का मंचन कराया। उस अस्थायी सभागार का नाम बंगाली थियेटर रखा गया था और उस नाटक में बंगाली कलाकारों ने ही अभिनय किया था। नवंबर 1795 के चार माह बाद मार्च 1796 में उस नाटक का दूसरी बार मंचन हुआ। उस कालखंड में अंग्रेजों ने अपने मनोरंजन के लिए कलकत्ता में प्ले हाउस (1745-1756) और कैलकाटा थियेटर (1775) नामक सभागार बनाए

किंतु वहाँ बांग्ला नाटकों के मंचन का उल्लेख नहीं मिलता। वहाँ किन अंग्रेजी नाटकों के मंचन हुए, इसका प्रामाणिक विवरण भी नहीं मिलता। उन्नीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में शेक्सपीयर तथा भवभूति के नाटकों के मंचन के बारे में उल्लेख मिलता है। 'समाचार चंद्रिका' में प्रकाशित एक समाचार से पता चलता है कि भवभूति के 'उत्तर रामचरित' का मंचन 1831 में प्रसन्न कुमार ठाकुर के बागानबाड़ी में हुआ था। इसी तरह 'हिंदू पायनियर' के 22 अक्टूबर 1835 के अंक में छपी एक नाट्य रंग समीक्षा से पता चलता है कि बंगाली बाबुओं के बागान या प्रासाद में बांग्ला नाटक 'विद्यासुंदर' का मंचन हुआ था। उसी के आस-पास 'विद्याविलास' तथा 'लोर चंद्राणी' नामक नाटकों के मंचन भी हुए। 1852 से 1872 के बीच बांग्ला में 157 मौलिक नाटक लिखे गए। 1857 में रामजय बसाक के चड़कडांगा नतूनबाजार स्थित घर के सामने मंच बनाकर 'कुलीनकुलसर्वस्व' नामक नाटक मंचित किया गया था। उसी साल आशुतोष देव और कालीप्रसाद सिंह के घरों के सामने 'शकुंतला', 'महाश्वेता', 'बेनीसंहार', 'विक्रमोवर्शी' नामक नाटकों के मंचनका उल्लेख मिलता है। उसी समय बांग्ला नाटकों के मंचन के लिए स्थायी रंगशाला बनाने की जरूरत शिद्दत से महसूस की गई और उसी क्रम में बेलगछिया थियेटर (1858), पाथुरियाघाट रंगालय (1859), जोड़ासांको थियेटर (1865) की स्थापना हुई। शोभाबाजार देवबाड़ी रंगालय भी उसी दौरान बना। इन रंगशालाओं में कई नाटकों के मंचन हुए। उसी दौर में माइकल मधुसूदन दत्त बांग्ला रंगमंच में आए। 1873 में उनके परामर्श से ही उनके नाटक 'शर्मिष्ठा' में स्त्री पात्र की भूमिका एक स्त्री ने निभाई। उसके पहले स्त्री पात्रों की भूमिका पुरुष निभाते थे।

गिरीश चंद्र घोष ने 1973 में बंकिम के उपन्यास 'कपालकुंडला' का मंचन किया। बंकिम के दूसरे उपन्यासों के भी मंचन हुए। इस कालखंड में रंगमंच को बंकिमचंद के उपन्यासों ने ही बचाया। गिरीशचंद्र ने नाट्य रूपातर के साथ खुद भी कई नाटक लिखे जैसे 'कमले कामिनी', 'आगमनी', 'दोललीला', 'पारस्यप्रसून', 'हीरक जुबिली', 'मायाकानन', 'अबू हुसैन', 'मयावसान', 'कालापहाड़' आदि। उन्होंने कई नाटकों में अभिनय भी किया। गिरीश युग के बाद बांग्ला रंगमंच में शिशिर युग आता है। 'सीता', 'नवनारायण', 'दिग्विजयी' समेत कई नटकों का शिशिर कुमार ने मंचन किया। बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में शिशिर युग का पर्याप्त प्रभाव रहा। इस दौरान शरतचंद्र के कई उपन्यासों का नाट्यरूपांतर हुआ और 'चरित्रहीन', 'आंधारे आलो', 'षोड्शी', 'विराज बऊ', 'अचला-गृहदाह' जैसी रचनाओं के मंचन

हुए। तब तक कई सभागार बन गए थे जैसे - स्टार, मिनर्वा, बेंगाली थिटेट्रिकल कंपनी, आर्ट थियेटर, कार्नवालिस थियेटर, अल्फ्रेड मंच आदि।

1881 में रवींद्रनाथ के नाटक 'बाल्मीकि प्रतिभा' का मंचन हुआ। उसके एक साल बाद 1882 में 'कालमृगया', 1889 में 'राजा उ रानी', 1890 में 'विसर्जन' का मंचन हुआ। बीसवीं शताब्दी के दूसरे-तीसरे दशक कर रवींद्रनाथ ठाकुर के जिन नाटकों की बंगाल में धूम रही, वे हैं - 'चिरकुमार सभा', 'गृहप्रवेश', 'वशीकरण', 'विदाय अभिशाप', 'शोध बोध', 'चित्रांगदा', 'शेष रक्षा', 'तपती' और 'मुक्तिर उपाय'। बांग्ला रंगमंच को रवींद्रनाथ ने लगातार साठ वर्षों तक सींचा। उनके नाटकों के अनेकानेक मंचन हुए। खुद रवींद्रनाथ ने भी अपने नाटक खेले। उनमें अभिनय किया। 1941 में रवींद्रनाथ का निधन हो गया किंतु उसके बाद भी बांग्ला रंगमंच के लिए वे अपरिहार्य बने रहे और आज भी बने हुए हैं।

बीसवीं शताब्दी में चालीस के दशक में कुल 64 नाटकों के मंचन का प्रमाण मिलता है। तब बांग्ला रंगमंच इप्टा के प्रभाव में आ चुका था। विजन भट्टाचार्य, शंभु मित्र, ऋत्विक घटक और उत्पल दत्त बांग्ला रंगमंच के नए रहनुमा बनकर दर्शकों के सामने आए। विजन भट्टाचार्य के 'आगुन' (1943), 'जवाबबंदी' (1944) और 'नवान्न' (1944) ने बांग्ला दर्शकों को उद्वेलित करके रख दिया। 'नवान्न' में विजन भट्टाचार्य के अलावा ऋत्विक घटक और शंभु मित्र ने भी अभिनय किया था। 1951 में उत्पल दत्त ने रवींद्रनाथ के नाटक 'विसर्जन', 1952 में शेक्सपीयर के 'मैकबेथ', 1953 में रवींद्रनाथ के 'अचलायतन' और सुनील चट्टोपाध्याय के 'किरानी' का निर्देशन किया। इन नाटकों में उत्पल दत्त ने अभिनय भी किया। 1948 में शंभु मित्र ने बहुरूपी नामक रंग-संस्था बनाई। शंभु मित्र ने 'चार अध्याय', 'राजा' और 'रक्तकरबी' जैसे नाटकों के जरिए नए ढंग के रवींद्रनाथ का पुनराविष्कार किया। शंभु मित्र ने तुलसी लाहिड़ी कृत 'छेड़ा तार', हेनरिक इब्सन कृत 'पुतुल खेला' तथा 'दास चक्र', सोफोक्लीज कृत 'राजा ओडिपस' नाटकों का निर्देशन भी किया। शंभु मित्र के नाटकों की प्रकाश व्यवस्था तापस सेन और मंच व्यवस्था खालेद चौधरी सँभालते थे। बांग्ला रंगमंच में इन दो विभूतियों को आधी शती से ज्यादा समय तक समृद्ध बनाए रखने में योगदान किया।

आजादी के बाद के बांग्ला रंगमंच की जब भी चर्चा होगी तो 'रुद्धसंगीत' नामक नाटक का उल्लेख अनिवार्यतः आएगा। यह नाटक देवब्रत विश्वास के जीवन संघर्ष पर केंद्रित है किंतु उसी के बहाने दर्शक इप्टा के समूचे इतिहास को मंच पर जीवंत होते देख पाते हैं। ब्रात्य बसु निर्देशित यह नाटक बताता है कि पचास और साठ के दशक में इप्टा किस तरह देशव्यापी

सांस्कृतिक वातावरण बनाने में जुटा था किंतु कम्युनिस्ट नेतृत्व बंगाल में उसे पचा नहीं पा रहा था। इप्टा से उभरे ऋत्विक घटक, सलिल चौधरी जैसे सांस्कृतिक नायकों तक को तब का कम्युनिस्ट नेतृत्व नहीं बर्दाश्त कर पाया था। सलिल के बाद ऋत्विक से पार्टी के जवाब-तलबवाले दृश्य को ब्रात्य ने मंच पर इस तरह रचा है कि वह पूरी बहस ही जीवंत हो उठती है। ज्योति बसु व प्रमोद दासगुप्त से ऋत्विक घटक कहते हैं - 'हमारी जनप्रियता ही तो आपके सिरदर्द का कारण है।' जवाब तलब के इस दृश्य को ब्रात्य ने समकालीन संदर्भों से भी जोड़ा है। 'आमरा-ओरा' का संदर्भ और संचार माध्यम (बांग्ला चैनल चौबीस घंटा) का संदर्भ नाटक को समसामयिक बनाता है। इस दृश्य में प्रमोद दासगुप्त का अभिनय पहले ब्रात्य करते थे। इस नाटक के सौ से ज्यादा शो हो चुके हैं। प्रमोद दासगुप्त की भूमिका अब देवाशीष विश्वास निभाते हैं।

बांग्ला के जिस नाटककार के नाटक सबसे ज्यादा हिंदी में खेले गए, उसका नाम बादल सरकार है। बादल दा जितने बड़े नाटककार थे, उतने ही बड़े अभिनेता और निर्देशक भी। इससे भी बड़ी बात यह कि वे रंगमंच के सिद्धांतकार थे। उन्होंने तीसरा रंगमंच का सैद्धांतिक प्रतिपादन किया और उसे बाकायदा मंच पर उतारा भी। भारतीय रंगमंच में तीसरे रंगमंच की मौलिक अवधारणा एकाएक नहीं जन्मी। उसके पहले बादल सरकार कई पड़ावों से गुजरे। वर्षों रंगकर्म करते हुए उन्होंने एक नई रंगभाषा की खोज की। उस खोज के भी कई चरण हैं जिन्हें पार करते हुए ही अंततः वे तीसरे रंगमंच का सिद्धांत रच सके थे। बादल दा के नाटक जब हिंदी व अन्य भारतीय भाषाओं में अनूदित होकर खेले गए तो उनकी जनप्रियता बंगाल के बाहर, समूचे भारतवर्ष में फैली। यानी हिंदी में आने के बाद ही बादल दा पूरे भारत के नाटककार बने। परवर्ती काल में वे भारतीय रंगमंच के रहनुमा बने। बादल सरकार का बड़ा योगदान यह है कि उन्होंने नाटक को प्रेक्षागृह से बाहर निकाला। आँगन मंच का यानी मुक्त मंच का सिद्धांत रचा। कम से कम खर्च में नाटक खेलना और सर्वसाधारण के लिए नाटक को निःशुल्क उपलब्ध कराना ही उनका मकसद रहा। मुक्त मंच का उनका अनुभव तीसरे रंगमंच की अवधारणा का मूलाधार बना। 15 जुलाई, 1925 को कोलकाता के एक ईसाई परिवार में जन्मे बादल उर्फ सुधींद्र सरकार ने शिवपुर इंजीनियरिंग कॉलेज से सिविल इंजीनियरिंग की डिग्री ली थी। नागपुर व कोलकाता में नौकरी की। रंगमंच में उनकी रुचि बचपन में ही हो गई थी। उन्होंने पहला नाटक साल्यूशव एक्स 1956 में लिखा। उसके बाद उन्होंने 'बोड़ो पीशी माँ', 'शनिवार' लिखा। उसके उपरांत 'सारा रात्तिर', 'बल्लभपुरेर

रूपकथा', 'प्रलाप', 'पोरे कोनोदिन', राम श्याम जोदू, कवि कहानी जैसे महत्वपूर्ण नाटक उन्होंने लिखे। इन नाटकों का मंचन भी कराया। 1965 में उन्होंने 'एवं इंद्रजित' लिखा जिसके मंचन के बाद बादल दा की ख्याति चारों ओर फैल गई। उसी साल उन्होंने बाकी इतिहास नामक नाटक लिखा। उसके बाद बादल सरकार ने क्रमशः तीसवीं शताब्दी (1966), यदि फिर एक बार (1966), पगला घोड़ा (1967), सगीना मेहता (1970), अबू हसन, (1971) और मिछिल (1974) लिखा और मंचन भी किया।

अरसे तक उन्होंने 'आँगन मंच' में अपने नाटक प्रस्तुत किए। इस रंग शैली में शारीरिक अभिनय को विशेष महत्व दिया जाता है। इसके तहत बादल बाबू किसी हाल में अलग-अलग माप और ऊँचाई की कुछ बेंचें अलग-अलग सजा देते, उन पर दर्शक बैठ जाते और उनके आस-पास अभिनेता डोलते रहते। बाद में उन्होंने शहरी और ग्रामीण मंच से अलग एक 'तीसरा रंगमंच' प्रस्तुत किया। 1970 से 1993 तक बादल सरकार के सभी नाटक तीसरे या विकल्प के रंगमंच को ध्यान में रखकर लिखे गए। बादल सरकार ने अपने साथियों के साथ 'परिक्रमा' कार्यक्रम के साथ बंगाल के अनेक जिलों में गाँव-गाँव जा कर नाटक किए और बंगाल के ग्रामीण जनों से सीधा रंगसंपर्क बनाया। बंगाल में गाँव-गाँव घूम कर बादल सरकार ने रंगकर्म का संदेश दे कर अभिजात्य नाट्य जगत को चुनौती दी। उनके नाटकों में कलाकारों और दर्शकों के बीच कोई फर्क नहीं होता। बादल सरकार ने आँगन, छत, नुक्कड़ और गाँवों में नाटकों को पहुँचा कर नाटक को व्यापक बनाया। पूरे देश में इन नाटकों को विभिन्न भाषाओं में, छोटे-बडे शहरों-कस्बों में विभिन्न नाट्य संस्थाओं द्वारा खेला गया। बादल सरकार के तीसरे रंगमंच ने भारत की भाषाई, प्रांतीय और सांस्कृतिक दूरियों को खत्म कर पहली बार एक सार्थक भारतीय रंगमंच विकसित करने की दिशा में एक सफल प्रयोग किया। मराठी, हिंदी, पंजाबी, गुजराती, मलयाली, कन्नड़, ओडिया आदि भारतीय भाषाओं में उनके नाटक मंचित हुए और किसी न किसी रूप में देश के सभी प्रांतों के रंगकर्मियों को तीसरे रंगमंच ने अपनी ओर आकृष्ट किया।

पिछले प्रायः पाँच दशकों से बांग्ला रंगमंच की बहुचर्चित शख्सियत बने हुए हैं -रुद्रप्रसाद सेनगुप्त। उन्होंने अपनी विलक्षण रंग दृष्टि का बार-बार परिचय दिया है। रुद्रप्रसाद सेनगुप्त निर्देशित नाटकों - 'फुटबाल', 'गोल्पो होलेई सोत्यी', 'हाटे-बाजारे', 'पदीपीशीर बर्मी बक्शा,' 'सिटी आफ ज्वाय', 'लिटिल बुद्धा' से लेकर 'आटोग्राफ' तक को आज भी लोग याद करते हैं। यही बात रवींद्रनाथ ठाकुर के नाटक 'अचलायतन' के लिए भी सही है। यह 'पंचम वैदिक' की

रंग प्रस्तुति है जिसकी स्थापना शंभु मित्र के संरक्षण में प्रायः तीन दशक पूर्व उनकी पुत्री साँओली मित्र ने की थी। साँओली मित्र ने 'पंचम वैदिक' के बैनर तले एक से बढ़कर एक नाटक खेले।

पिछले दशकों में अनीक थियेटर ग्रुप, बहुरूपी, गननाट्य, ग्रुप थियेटर आफ कोलकाता, इप्टा, नांदीकर, पंचम बैदिक, संगलप कोलकाता, सयक, सुंदरम, सृजन सेना, स्वप्नफेरी, स्वप्न संधानी जैसे रंग समूह बंगाल में सक्रिय रहे हैं। वर्तमान में जो रंगकर्मी बांग्ला रंगमंच को जीवन दे रहे हैं, उनमें प्रमुख हैं - सौमित्र चटर्जी, मनोज मित्र, विभास चक्रवर्ती, सुमन मुखोपाध्याय, देवशंकर हाल्दार, कौशिक सेन, रमाप्रसाद बनिक और सोहिनी सेनगुप्त। अच्छी रंग प्रस्तुतियाँ उस भाषा तक सीमित नहीं रह जातीं जिसमें वे खेली जाती हैं। उन प्रस्तुतियों को हर भाषा के दर्शक देखते और सराहते हैं।

बंगाल में रंगमंच की बात हो रही है तो कम से कम तीन हिंदीभाषी रंगकर्मियों का जिक्र लाजिमी है। ये हैं - श्यामानंद जालान, प्रतिभा अग्रवाल और उषा गांगुली। इन तीनों रंग स्तंभों ने स्वातंत्र्योत्तर काल में बांग्ला तथा हिंदी रंगमंच के बीच महत्वपूर्ण सेतु का निर्माण किया। श्यामानंद जालान (13 जनवरी 1934-24 मई 2010) ने बांग्ला की कई महत्वपूर्ण कृतियों का हिंदी में अनुवाद किया। जालान ने रवींद्रनाथ ठाकुर के उपन्यास 'घरे-बाइरे' का हिंदी में नाट्य रूपांतरण किया तो बादल सरकार के दो नाटकों 'एवम इंद्रजीत' और 'पगला घोड़ा' का भी हिंदी में नाट्य रूपांतरण कर मंचन किया। जालान ने ही समूची हिंदी पट्टी से बादल सरकार का परिचय कराया था। श्यामानंद जालान ने महाश्वेता देवी के उपन्यास 'हजार चौरासी की माँ' का हिंदी में नाट्य रूपांतरण कर मंचन किया तो दिव्येंदु पालित की कहानी 'मुखाभिनय' की हिंदी में पटकथा तैयार की और 'ईश्वर माइम कंपनी' नाम से फिल्म बनाई। जालान द्वारा निर्देशित यह एक मात्र फिल्म थी। श्यामानंद जालान ने 1972 में पश्चिम बंग नाट्य उन्नयन समिति के नाटक 'तुगलक' में बांग्ला के किवदंती रंगपुरुष शंभु मित्र के साथ मंच पर अभिनय किया था। इस बांग्ला नाटक में देवब्रत दत्त और रुद्रप्रसाद सेनगुप्ता ने भी अभिनय किया था। जालान ने बांग्ला नाटकों के अलावा बांग्ला फिल्मों में भी अभिनय किया। उत्पलेंदु चक्रवर्ती की बांग्ला फिल्म 'चोख' में उत्कृष्ट अभिनय के लिए उन्हें बी एफ जे ए का श्रेष्ठ सह अभिनेता का पुरस्कार मिला था।

सन् 1981 में प्रतिभा अग्रवाल ने कोलकाता में नाट्य शोध संस्थान की स्थापना की। इस संस्थान ने भारत की हर भाषा के थियेटर से जुड़े तथ्यों और रंगकर्मियों तथा रंग संस्थाओं से

जुड़े तथ्यों का ऐतिहासिक संग्रह किया है। यह संस्थान भारत में थियेटर की परंपरा और उसके इतिहास की मुकम्मल जानकारी उपलब्ध कराता है। संस्थान ने दुर्लभ नाट्य पांडुलिपियों, पोस्टरों, नाट्य समीक्षाओं, पत्र-पत्रिकाओं की कतरनों, पत्रिकाओं, पुस्तकों, ऑडियों-वीडियो कैसेट, फिल्म स्टेड मॉडल, स्लाइडों, ग्रामोफोन रिकॉर्डिंग, तस्वीरों, नाटक के लिए उपयोग में लाई गई पोशाकों, आभूषणों और ब्रोशर्स का अनुपम संग्रह किया है। संस्थान के पुस्तकालय और संग्रहालय में थियेटर पर सैकड़ों पुस्तकें, दुर्लभ पांडुलिपियाँ और चार सौ व्यक्तियों के इंटरव्यू उपलब्ध हैं। शोधार्थियों की सुविधा के लिए नाट्य शोध संस्थान का कैटलाग तीन खंडों में प्रकाशित किया गया है। इसका संपादन प्रतिभा अग्रवाल ने ही किया है। संस्थान प्रकाशन के क्षेत्र में भी सक्रिय रहा है। शुरुआत हुई 1986 में मास्टर फिदा हुसैन पर प्रतिभा अग्रवाल की किताब से। उसके बाद उनकी किताब किंवदंती रंग पुरुष हबीब तनवीर पर आई - 'हबीब तनवीर : एक रंग व्यक्तित्व'। प्रकाशन का काम आज भी समान गति से चल रहा है। नाट्य संस्थान की स्थापना के बाद प्रतिभा जी का अभिनय-निर्देशन छूट गया पर संस्थान के जरिए रंग-संरक्षण का महत्वपूर्ण काम उन्होंने किया।

प्रतिभा अग्रवाल बहुमुखी प्रतिभा की धनी हैं। अभिनय और रंग निर्देशन के अलावा वे लेखिका और अनुवादिका भी हैं। प्रतिभा अग्रवाल की मौलिक कृतियाँ - 'सृजन का सुख-दुख', 'दस्तक जिंदगी की', 'मोड़ जिंदगी का' हिंदी में पर्याप्त समादृत हुईं। इन तीनों किताबों में प्रतिभा जी ने अपने बारे में लिखा है लेकिन केवल अपने बारे में नहीं लिखा है। इन किताबों में उन्होंने कलकत्ता के हिंदी रंगमंच का इतिहास भी प्रस्तुत किया है। इसी कड़ी में उनकी किताब 'कहानी मदन बाबू की' का उल्लेख भी किया जा सकता है। प्रतिभा जी ने कविताएँ भी लिखी हैं। उनका कविता संग्रह 'खेल खेल में' बच्चों के लिए संग्रहणीय किताब है। प्रतिभा जी उपन्यासकार भी हैं। 'प्यारे हरिचंद जू' शीर्षक से उन्होंने जीवनी उपन्यास लिखा है। भारतेंदु के जीवन के अनेक मार्मिक प्रसंग इस कृति को आरंभ से आखिर तक पठनीय बनाए रखते हैं। उनका शोध प्रबंध 'हिंदी मुहावरे : विश्लेषणात्मक विवेचन' भी एक मूल्यवान कृति के रूप में समादृत हुई।

मौलिक लेखन के अलावा प्रतिभा जी ने छह उपन्यासों के नाट्य रूपांतर किए। ये हैं - घरेर-बाइरे (रवींद्रनाथ ठाकुर), देना-पावना (शरतचंद्र), सुहाग के नूपुर (अमृतलाल नागर), गोदान (प्रेमचंद), मैला आंचल (रेणु) और वंशवृक्ष (एस एल भैरप्पा)। प्रतिभा अग्रवाल ने चालीस से अधिक नाटकों का हिंदी में अनुवाद किया है। मुख्यतः बांग्ला और गुजराती के नाटकों का।

बांग्ला से धनंजय वैरागी, बादल सरकार, शेखर चटर्जी, उत्पल दत्त, मनोज मित्र के नाटकों का उन्होंने हिंदी में अनुवाद किया तो गुजराती से शिव कुमार जोशी, मधु राय, लाभशंकर ठाकर तथा अंग्रेजी से इब्सन, आर्थर मिलर, पिरैंडेलो और सार्त्र के नाटकों का हिंदी में अनुवाद किया। प्रतिभा अग्रवाल ने नंदलाल बसु रचनावली का भी हिंदी में अनुवाद किया तो सुकुमारी भट्टाचार्य तथा सुनील गंगोपाध्याय की किताबों का भी। प्रतिभा जी के लिए अनुवाद हमेशा पुनर्प्रस्तुति रहा है। प्रतिभा अग्रवाल ने कई पुस्तकों का संपादन भी किया जिसमें सर्वाधिक उल्लेखनीय है - 'हिंदी रंग कोश' जिसे नाट्य शोध संस्थान और राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय ने संयुक्त रूप से प्रकाशित किया है। प्रतिभा अग्रवाल ने कई वर्षों तक कलकत्ता साहित्य संकलन भी निकाला। उसका महत्व इस लिहाज से बहुत है कि कोलकाता के हिंदी लेखकों का वह प्रतिनिधि साहित्य संकलन होता था।

उषा गांगुली ने कोलकाता में हिंदी नाटक खेले तो बांग्ला नाटक भी। रंगमंच के जरिए बांग्ला-हिंदी सेतुबंधन में अहम भूमिका अदा करनेवाली उषा गांगुली को जानने का अवसर उन्हीं की रंग प्रस्तुति 'अंतर्यात्रा' देती है। यह नाटक उनका आत्मकथांश है। उनके निजी और रंगजीवन में जो स्त्रियाँ आईं, सभी इसमें हैं। दूर खड़ी है पुरुष के प्रेम के द्वंद्व में फँसी 'बीना'। आत्म सम्मान से जीने के लिए घर से बाहर आई 'मुनिया'। राजनीतिक विप्लव की साकार छवि बन गई गोर्की की 'माँ'। गाड़ी के बोझ को अकेले खींच रही - 'हिम्मतमाई'। साहसी सावित्री। 'रुदाली' की सनीचरी, जिसका पेशा है - अमीरों के मुर्दों पर रोकर पैसा कमाना। उषा गांगुली निर्देशित-अभिनीत 'अंतर्यात्रा' सिर्फ नाटक नहीं, बाहर-भीतर के जंग से निरंतर जूझती स्त्री की संघर्ष गाथा है। इस नाटक में तीन ज्यामितीय आकृतियाँ मंच सज्जा का जरूरी हिस्सा हैं। मंच सज्जा खालेद चौधरी की है और प्रकाश व्यवस्था तापस सेन (अब दिवंगत) की। दोनों अपने-अपने क्षेत्र के धुरंधर। मंच-सज्जा और प्रकाश व्यवस्था 'अंतर्यात्रा' में कथा की संप्रेषणीयता कई गुना बढ़ा देती है। ढाक बजता है और उसी के साथ उषा मंच पर प्रकट होती हैं। ढाक की आवाज उषा को बचपन की याद दिलाती है और जब वे स्मृतियों में उतरती हैं तो उनके निजी जीवन और रंग जीवन में आई अनेकानेक स्त्रियों की वेदना, उनका संघर्ष उनकी आँखों के सामने तैर जाता है। इस तरह उषा गांगुली की 'अंतर्यात्रा' में कई-कई स्त्रियों की अंतर्यात्राएँ जुड़ती जाती हैं और सभी मिलकर नाटक को स्त्री संघर्ष की महागाथा के रूप में परिणत कर देती हैं। यह महागाथा उषा गांगुली कभी स्वयं से, कभी दर्शकों से, तो कभी अपने पात्रों से ज्यादातर हिंदी में व बीच-बीच में बांग्ला में बात करते हुए सुनाती हैं। उनके स्त्री पात्र

मंच पर नहीं दिखते पर उनकी उपस्थिति का एहसास उषा कराती चलती हैं। उषा का संपूर्ण जीवनानुभव व रंग अनुभव इस नाटक में तनाव और कसावट को बनाए रखता है। दृश्य-श्रव्य के सहारे पूरे एक घंटे दर्शकों को वे खींचे रखती हैं। उनकी संवाद अदायगी व भंगिमाएँ इतनी असरदार हैं कि दर्शक पूरी 'अंतर्यात्रा' में शरीक होता चलता है और उनकी चिंताओं में भी। पितृ सत्तात्मक समाज में स्त्री की हैसियत का बोध उषा को बचपन में ही हो जाता है - 'छोटे भाई की तरह मेरा जन्मदिन नहीं मनाया जाता था...' स्त्री-पुरुष समानता की पूरी कलई यह छोटा सा संवाद खोल देता है। फिर शुरू होती है एक-एक पात्र की दुखभरी कहानी - 'आज बीना की याद आ रही है। 'रंगकर्मी' के पहले बड़े नाटक 'परिचय' की बीना... बस ड्राइवर की बेटी बीना। नौकरी करने दिल्ली जाती है। बुद्धिजीवी सुदीप के प्रेम में डूब जाती है... बीना समूचे परिवार के साथ सुदीप का इंतजार करती है पर सुदीप नहीं आता। आता है एक खत, जिसमें लिखा है, इतने दिनों उसने जो-जो कहा सब झूठ है। पूरा घर बीना पर बरस पड़ता है...।' बीना प्रेम के द्वंद्व में है तो केया दी को कठिन आर्थिक संघर्ष से जूझना पड़ता है। वही केया दी यानी केया चक्रवर्ती जिन्होंने 'नांदीकार' नाट्य ग्रुप को गढ़ने के लिए कॉलेज की नौकरी छोड़ दी, बस में कंडक्टर को देने के लिए उषा से कहती है - 'ऐ जे पाँच पोयसा होबे?' उन्हीं केया दी ने उषा को तृप्ति मित्र से मिलाया था और जब तृप्ति मित्र रंगकर्मी के नाटक 'गुड़ियाघर' के निर्देशन के लिए आईं तो शंभू मित्र जो कुछ कर चुके थे, उस पर इस तरह राय जताई थी - 'ऊनी (शंभू मित्र) जा कोरेछन, आमी तार बेशी किछू कोरबो ना।' इसे कहते हैं ईमानदारी! इस नाटक में उषा 'मुनिया' बनीं। मुनिया अपने पति को बहुत चाहती थी, उसे बचाने के लिए उसने जाली दस्तखत किए और जब इसके पति को पता चला तो उसने मुनिया का बंद कमरे में जबरदस्त अपमान किया। यही अपमान वह नहीं बर्दाश्त कर पाती, अपमान की उस रात वह अपने सारे सामान, शादी का जोड़ा, गहने, जेवर सब कुछ त्यागकर एक नया रूप धारण करती है और जैसे ही रूमाल से अपनी माँग का सिंदूर पोंछती है - पूरे हॉल में सनसनी फैल जाती है। मुनिया के अपमान दंश का प्रसंग सुनाकर उषा दर्शकों में सहानुभूति या दावा का भाव नहीं जगातीं, बल्कि प्रतिवाद का, चेतना का बीच बो जाती हैं। 'अंतर्यात्रा' नाटक मुनिया के सिंदूर प्रसंग को अनिमा दी के प्रसंग से जोड़ता है। हम सबके घर में अनिमाएँ रहती हैं जो उपनगरों से आकर हमारे घरों को सँभालती हैं। अनिमा दी अपने घर से निर्वासित होकर कोलकाता आई थीं। उषा पूछती हैं - 'सीता से जो निर्वासन शुरू हुआ, उसका अंत कब होगा?' अनिमा दी माँग में सिंदूर लगाती थीं। वे अपना गाँव मथुरापुर इसलिए छोड़ आई थीं क्योंकि

वहाँ उनकी सौत आ गई थी। ...अनिमा दी के बाद उषा गोर्की व ब्रेख्त की माँ का स्मरण करती हैं। 1992 में 'माँ' का मंचन हुआ। माँ अशिक्षित थीं किंतु वही एक दिन एक संपूर्ण राजनीतिक आंदोलन की प्रतिमूर्ति हो उठती हैं। ...सिमिलगिन को गोली लग जाती है, तब भी धीरे-धीरे जमीन पर झुकती है, झंडा उठाती है - 'झंडा मुझे दो सिमिलगिन, मैं उठाऊँगी। इन सबको बदलना होगा।' पार्श्व से आवाज आती है - प्लाजिया ब्लासोवा, तुम्हारे बेटे को गोली मार दी गई है। यह सुनकर माँ बेटे के शोक में कमजोर नहीं होती बल्कि और मजबूत होकर सामने आती है।

सुरक्षा के सवाल से रोज ही स्त्री को रूबरू होना पड़ता है। स्वयं उषा गांगुली को भी जूझना पड़ा है। 'अंतर्यात्रा' में उषा का स्वयं का एक अनुभव है - 'नंदन में फिल्म पर एक सेमिनार में बोलकर वापस आ रही थी, सड़क पार कर टैक्सी के इंतजार में गोखले रोड में किनारे खड़ी हुई कि अचानक एक अनजान, अपरिचित सामने आकर एक अश्लील प्रस्ताव रखता है - कॉफी पीने जाएँगी? जैसे किसी ने हजार-हजार बाल्टी ठंडा पानी मेरे ऊपर डाल दिया हो। ...लगा मेरी शिक्षा, मेरा सम्मान, मेरा अध्यापन, मेरा सुंदर सृजनशील थियेटर सब खाक में। उस पुरुष की निगाह में थी सिर्फ एक आदिम नारी।' माधुरी 'रंगकर्मी' की संस्थापक सदस्य थी। देखने-पढ़ने में सुंदर। एम.ए. प्रथम श्रेणी में प्रथम आई थी। स्वर्ण पदक मिला था। वही माधुरी एक दिन दोपहर के वक्त दौड़ती-हाँफती आई। उसके पूरे शरीर में किरोसीन की गंध। बोली वो लोग मुझे मार डालेंगे। मेरे हाथ में माचिस की तिल्ली देकर चिल्लाने लगे - आग लगाओ।' 14 दिन कमांड अस्पताल में रहकर चल बसी। लास्ट स्टेटमेंट दिया। - 'मेरी मौत के लिए कोई जिम्मेदार नहीं।' जीवन में मिली स्त्रियों की कथा-व्यथा सुनाते हुए उषा बराबर स्त्री की अवस्था को व्यापक सामाजिक संदर्भों के बीच रखकर जाँचने-परखने की कोशिश करती हैं। नाटक का एक संवाद है - मीराबाई की जंजीर भी कम भारी नहीं थी। उन्हें जीने के लिए मरना नहीं पड़ा था। मीरा ने अपने गीत में कहा था - छोड़े पिता, छोड़े माँ / छोड़े जिस-जिसको छोड़ना हो। मीरा प्रभु चरणों में लगी ही रही / इसमें जो होना हो, सो हो। उषा गांगुली आखिर में कहती हैं - मैं भी बचूँगी। मैं बच गई। इस संवाद के साथ ही परदा गिरता है। कहना न होगा परदे के भीतर भी स्त्री का संघर्ष और उसका आत्मसंघर्ष चलता रहता है। अब भी चल रहा है। संघर्ष में ही राह की निर्मित होती है और स्त्री विमर्श के नए गवाक्ष खुलते हैं।

पूर्वांचल का रंगमंच

सांस्कृतिक रूप से बिहार, बंगाल, उड़ीसा, असम तथा त्रिपुरा के भू-भाग को पूर्वाञ्चल भारत के रूप में जाना जाता है। राजनीतिक तथा प्रशासनिक दृष्टिकोण से यह अलग राज्य हैं, जिसमें बिहार, बंगाल, उड़ीसा वृहत्तर बंगाल के रूप में जाना जाता था। 1905 में बंगाल विभाजन हुआ और पूर्वी बंगाल (बांग्लादेश का हिस्सा) और पश्चिम बंगाल अस्तित्व में आया। अब तक बिहार और उड़ीसा सयुंक्त था, जिसका विभाजन 1936 में हुआ। त्रिपुरा और आसाम पूर्वोत्तर सीमांचल प्रदेश के अंतर्गत था। वर्तमान में यह पूर्वोत्तर भारत के राज्यों में गिना जाता है।

पूर्वाञ्चालीय संस्कृति के पीछे मुख्य दो स्थापनाएं हैं-

सांस्कृतिक

भौगोलिक तथा ऐतिहासिक

सांस्कृतिक स्थापना के पीछे मत है कि इन राज्यों की भाषाएँ यथा मैथली, मगही, भौजपुरी, बांग्ला, सूर्यापुरी तथा असमियाँ अर्धमागधी से विकसित है। प्राचीनकाल से ही प्रायः एक ही शासक से शासित होने के कारण एक विशेष प्रकार के राजनीतिक विचारधारा का प्रतिनिधित्व करती है। इन प्रदेशों की संस्कृति नदी मातृक है। महाजनपद काल में अंग, बंग, कलिंग, कौसल, उड़ीसा, मगध, ओड्र, पुंडवर्धन, कामरूप नाम से हुआ

पूर्वाञ्चल की संस्कृति साँझी संस्कृति है भाषिक भिन्नता होते हुए भी यहाँ के लोगों की रुचि, खान-पान आदि सामाजिक व्यवहारों में मौलिक एकता सर्वत्र पायी जाती है। गंगा, कोसी, कमला, बलान, कोल, दामोदर, हुगली, महानदी, ब्रह्मपुत्र आदि नदियां यहाँ के सांझी संकृति की चिरवाहक रही है। नदियों की पूजा पूर्वाञ्चल में सभी जगह की जाती है। शादी-विवाह, तीज-त्योहार आदि संस्कारिक में भी मौलिक समानता देखने को मिलती है। पूर्वाञ्चल की भूमि पर कई धर्मों ने विस्तार पाया जिसमें बौद्ध धर्म तथा वैष्णव धर्म प्रमुख हैं।

कला पूर्वाञ्चालिया समाज का एक अभिन्न हिस्सा है यहाँ की विशाल प्रकृतिक सम्पदा ने भी कलाओं ने भी कलाओं को सहेज कर रखा है यहाँ कई कला रूप गीत नृत्य आदि के रूप में मौजूद है। कोई भी कला उस समाज का प्रतिबिंब होती है धार्मिक विचारधारा की दृष्टि से भी पूर्वाञ्चल प्रमुख है।

इसी काल में कई कला रूप सामने आए। मानव सभ्यता के विकास क्रम में प्राचीन रंगमंच का प्रादुर्भाव हुआ। भारत में मध्ययुगीन भक्ति संतों का मुख्य उद्देश्य उच्च मानवीय मूल्यों और सामाजिक आदर्शों की स्थापना करना था। उन्होंने एक मत से तत्कालीन सामाजिक विसंगतियों का विरोध किया जिसके द्वारा संत अपनी वाणी और विचारों का जन-जन तक पहुँचा सके तथा वो माध्यम आज लोगों के मध्य लोकप्रिय भी है। गहरे आत्मनवेषण के बाद भक्ति संतों ने लोक रंजन के लिए प्रचलित गीतों एवं नृत्यों को ही अपना माध्यम बनाया। कालांतर में इस नृत्य गाँ शैली में लोक आदर्श के कथा तत्व जुड़ जाने से पारंपरिक नाट्योन का उद्भव हुआ।

बिहार का कीर्तनियाँ, बिदापत, बंगाल का जात्रा, उड़ीसा का ढब जात्रा तथा प्रह्लाद नाटकम, असाम का अंकीया नाट भाओना, मणिपुर की गौर लीला, गोष्ठ लीला तथा शुमांग लीला, त्रिपुरा की ढब जात्रा यह सभी इस परंपरा की एक महत्वपूर्ण कड़ी हैं। मध्यकाल में जब संस्कृत रंगमंच ह्रासोन्मुखी हुआ, साहित्यिक नाटकों की परंपरा बिखरने लगी, ऐसी स्थिति में रंगमंच पतनोन्मुख नहीं हुआ बल्कि वो लोकोन्मुख हो गया। यह प्रवृति देशव्यापी थी। केरल से लेकर आसाम तक की रंगशालाओं में शास्त्रीय रंगमंच लोकनतयोन के संपर्क में आके पुनर्जीवित हो उठे। देश के कुछ भागों में राजाओं ने न केवल नाटककार और नाट्य प्रदर्शन को आश्रय दिया वरन स्वयं नाट्य आंदोलन के विकास का नेतृत्व भी किया। मिथिला (बिहार) में इस आंदोलन के अगुआ करनाटकवंशी शासक हरीसिंग देव थे उनके नाट्य काल में जो परंपरा स्थापित हुई वह 20वीं शताब्दी के अंत तक निरंतर प्रवाहित होती रही।

इसी काल में ज्योतिरीश्वर ठाकुर का धुर्तसमागम तथा उमापति द्वारा पारिजातहरण की रचना हुई। असम से लेकर दक्षिण भारत (केरल) तक यह नाटक लोकप्रिय रहे। बिदापत नाच, कीर्तनियाँ तथा अंकीया नाट तक में पारिजातहरण खेला जाता है जिसमें कृष्ण और रुक्मणी का प्रसंग है। कीर्तनियाँ परंपरा के कई नाटक असम, बंगाल और दक्षिण भारत में प्रदर्शित होते थे। इसमें लगभग बीस नाटकों में करीब चोदह नाटक कृष्ण कथाश्रित है।

वैष्णवकालीन रंगमंच पर जयदेव के गीतगोविंद का व्यापक प्रभाव पड़ा। जयदेव का गीत गोविंद भारतीय नाट्य परंपरा के इतिहास में लोक प्रवर्तक काव्य के रूप में अवतीर्ण हुआ। राधा-कृष्ण के रास प्रसंग को नृत्य और संगीत में निंबद्ध करके जयदेव ने जिस नई प्रदर्शन शैली का विकास किया उसने तत्कालीन सभी नाट्य रूपों को प्रभावित किया। जयदेव के बाद विद्यापति पूर्वाञ्चल भारत के कृष्ण के बड़े प्रेणता हुए। जयदेव की तरह इन्होंने भी वसंत

रास के ही गीत रचे इसलिए पूर्वाञ्चल भारत में रास की मंचीय परंपरा भी वसंत रास की है। मणिपुरी रास भी प्रतिनिधि नाट्य नृत्य रूप है।

वैष्णवकालीन लोक - नाट्य परम्पराओं में कृष्ण विषयक कई कथानक का वर्णन मिलता है। बंगाल की जात्रा में जहाँ कृष्ण की लीलाओं का समावेश है वहीं मणिपुर की गौर लीला अपने सामाजिक स्वरूप में विस्तार पाती है। असम के शंकरदेव उन संतों में से हैं जिन्होंने अपने विचारों के प्रसार के लिए भारत भ्रमण किया। भक्तिकाल में वैष्णव संतों ने ब्रज की तरफ रुख किया साथ ही वहाँ की रास परंपरा को अपने काव्य में स्थान दिया। शंकरदेव ने ब्रज से वापस लौटने पर सम्पूर्ण पूर्वाञ्चल की यात्रा की। वहाँ उन्होंने बंगाल में जात्रा तथा बिहार में कीर्तनियाँ (पारिजातरण) नाटक आदि का प्रदर्शन देखा। असम लौटने के बाद सघन अनुभव से असम के प्राचीन नृत्यों के साथ अंकीया नाट को जन्म दिया। इसलिए अंकीया नाट में कीर्तनियाँ, जात्रा आदि के तत्व प्रचुर मात्र में मिलते हैं। तत्कालीन समाज को शंकरी भक्ति से शांति मिली।

इन सभी नाट्यरूपों ने वैष्णव कथा रूपों के माध्यम से आक्रांत जनता को आस्था शांति का मार्ग दिखाया। वैष्णव संत जिस कर्मकांड के विरुद्ध मत का प्रचार कर रहे थे इन नाट्य रूपों से उनके प्रसार में काफी हद तक सफलता मिली। मध्यकाल में ईश्वरीय चरित्र सामाजिक भूमिका निभाते हैं कृष्ण लीला के माध्यम से वैष्णव संत सामाजिक संदेश को जनमानस तक पहुँचाते हैं। इन सभी वैष्णवकालीन नाट्यरूपों के कथानकों में कृष्ण मुख्य पत्र के रूप में है अपने आराध्य को अपने सम्मुख देखकर जनता भावविभोर हो जाती थी उनके जीवन के नितांत समीप होने के कारण वैष्णव आधारित नाट्य रूपों का विकास हुआ इसने कई सदियों तक भारतीय जनमानस को एकसूत्र में बाँधे रखा।

असम में प्राचिन काल में नाटक

असम में प्राचीनकाल में नाटक का प्रचलन था या नहीं, इसका कोई लिखित विविरण उपलब्ध नहीं है। १५वीं शताब्दी में महापुरुष शंकरदेव ने धर्म-संस्कार की भावना से मनुष्य के नैतिक चरित्र निर्माण हेतु असम तथा बाहर की लौकिक नाटक कलाओं के साथ-साथ संस्कृत की नाट्यकला का समन्वय कर नव वैष्णव धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु एकांकी नाटकों की रचना की जिन्हें ''अंकीया नाट'' कहा जाता है। शंकरदेव के प्रमुख अंकीया नाट है-चिन्हपात्रा, कलिया दमन, पत्नी प्रसाद, केलि गोपाल, रूक्मिणी हरण, पारिजात हरण, राम विजय, शंकरदेव के शिष्य माधवदेव ने भी मुख्य रूप से शंकरदेव का आर्दश सामने रखकर एक नई शैली के

नाटक ''झूमरा'' लिखे जिसमें नृत्य गीत को ज्यादा महत्व दिया गया, उसके बाद गोपाल आता, द्विजभूषण, रामचरण ठाकुर, दैत्यादि ठाकुर आदि अनेक वैष्णव नाटककारों तथा समाधिकारों ने धर्म प्रचार और कृष्ण भक्ति दर्शाने के लिए अनेक नाटकों की रचना की, इन सब नाटकों की भाषा असमिया से कुछ अलग ब्रजावली थी, बाद में अंकीया नाटकों का अभिनय राज दरबारों में भी होने लगा और नाटक की प्रस्तुति, अभिनय, रचना शैली आदि में भी बदलाव आने लगा।
असम में समाज और विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ लोगों के चिंतन का क्षितिज व्यापक हुआ। बुद्धिजीवी नाटककारों और रंगकर्मियों ने दर्शक और पाठक के बदले हुए दृष्टिकोण के अनुसार मंचीय शैली और अभिनय शैली में भी परिवर्तन लाना शुरू कर दिया। स्वतंत्रता के बाद आधुनिक पश्चिमी शैली का प्रभाव असमिया नाटककारों पर बहुत अधिक पड़ा। उन्होंने अभिनय और प्रस्तुति के क्षेत्र में कई अनूठे प्रयोग किए।

असम में, वर्तमान समय में रंगकर्म एक आंदोलन का रूप ले चुका है। छोटे-छोटे कस्बों में भी नाटक संस्थाएँ सक्रिय हैं। रगंकर्म के क्षेत्र में सशक्त प्रयोग हो रहे हैं। हालांकि पूरे राज्य के रंगकर्मी स्थायी रंगमंच की कमी महसूस करते हैं। दूसरी तहफ मोबाइल थियेटर असम में एक सफल उद्योग बन चुका है। दो दर्जन से अधिक मोबाइल थियेटर कंपनियाँ हैं, जो वर्ष भर पूरे राज्य में घूम-घूमकर नाटकों का मंचन करती हैं। व्यावसायिक कारणों से इन थियेटरों में ऐसे नाटकों का ही मंचन किया जाता है, जो दर्शकों को ज्यादा से ज्यादा आकर्षित कर सकते हों। डायना, टाइटेनिक, फूलनदेवी आदि विषयों पर नाटकों की प्रस्तुति का नया मार्ग चुना है। कुछ आलोचक मानते हैं कि कलात्मक नाटकों का प्रभाव कम होता जा रहा है, परंतु यह भी सच है कि सैंकड़ों रंगकर्मियों को मोबाइल थियेटर से रोजी-रोटी मिल रही है और राज्य की जनता का व्यापक समर्थन इन थियेटरों को मिल रहा है। जिस समय उपग्रह चैनलों ने नाटकों के अस्तित्व के सामने सवालिया निशान लगा दिए हैं। ऐसे समय में असम में रंगकर्म का माहौल काफी उत्साह जनक है। इस स्थिति को देखते हुए कहा जा सकता है कि असम में रंगकर्म का भविष्य उज्ज्वल है।

मराठी रंगमंच का विकास

-मेधा साठे

मराठी रंगमंच की ऐतिहासिक परंपरा है। इसका प्रारंभ १८४३ से हुआ। आरंभ काल में ऐतिहासिक विषयों तथा पुराणों के आधार पर नाटकों में स्वदेश प्रेम, स्वतंत्रता के प्रति आस्था से संबंधित विषय रहे। इन नाटकों पर तिलक, चिपलुणकर जैसी विभूतियों के विचारों का प्रभाव था।

१८८० में अण्णासाहेब किर्लोस्कर लिखित 'संगीत शाकुंतल' का मंचन हुआ। संगीत नाटक, कीर्तन, ऑपेरा, शास्त्रीय संगीत, महफिल, तमाशा, कर्नाटक संगीत से एकदम अलग नाट्याविष्कार था। १९१० से मराठी रंगमंच ने सुवर्णकाल देखा, जिसमें किर्लोस्कर और गोविंद बल्लाल देवल के बाद कृष्णाजी प्रभाकर खाडिलकर, राम गणेश गडकरी जैसे सिद्धहस्त लेखकों ने 'मानापमान', 'स्वयंवर', 'एकच प्याला' जैसे अनेक अजरामर नाटकों को जन्म दिया, जिनका मंचन आज भी हो रहा है। उस ज़माने में महिलाओं को नाटक में काम करना मना था, जिसके कारण किसी मोहक काबिल सुरीली आवाज के आदमी को ही स्त्री की भूमिका निभानी पड़ती थी। स्त्री की भूमिका करने वालों में और उन्हें ज़्यादा अमर बनाने वालों में प्रमुख नाम नारायणराव राजहंस का लिया जाता है, जो 'बालगंधर्व' के नाम से प्रख्यात हैं, जिन्होंने अपने गायन और रूप से सबका मन मोह लिया था। उनकी समकालीन महिलाएं तो उनके किये गए फैशन को अपनाती थीं। मास्टर दीनानाथ मंगेशकर, नानासाहेब फाटक, भालचंद्र पेंढारकर ने अपने गाँवों में रंगमंच पर इतिहास रचा। शुरू-शुरू में इन नाटकों की अवधि पाँच अंकों की रहती थी जो रात में १० बजे शुरू होकर सुबह पाँच बजे तक चलते थे। बदलते समय के अनुसार उसे कम कर दिया गया और धीरे-धीरे नाटक ३ अंकों का बन गया। अब तो २ अंक के नाटक होने लगे हैं, जिनकी अवधि ढाई या तीन घंटे होती है। 'संगीत-नाटक' मराठी रंगमंच की विश्व रंगमंच को एक महत्वपूर्ण देन है। नाट्यानंद, काव्यानंद और स्वरानंद का संगम अर्थात् 'नाट्यसंगीत'। संगीत नाटकों की परंपरा इस आधुनिकता और पश्चिमीकरण के भंवर में भी अपना स्थान अक्षुण्ण बनाए हुए है। समय के अनुसार 'संगीत-नाटक' में आविष्कार होते गए और नए-नए

प्रयोग किए गए। लोगों की रुचि देखकर उसमें सरलता लाई गई। इसमें पं. जितेन्द्र अभिषेकी का कार्य महत्वपूर्ण रहा। उन्होंने सुगम नाट्यगीत तैयार कर अपनी अलग पहचान बनाई। १९६० से ८० की अवधि में विद्याधर गोखले और वसंत कानेटकर जैसी विभूतियों ने, सभी दर्शकों को भानेवाले संगीत नाटकों की निर्मिती की। आज के दौर में तो पार्श्वसंगीत के आधार पर रिकार्ड किए गए गाने पेश किए जाते हैं। इस प्रकार नया रूप लेकर पेश किए गए नाटकों को सभी लोगों ने पसंद किया। श्रीकांत मोघे, प्रशांत दामले जैसे अभिनेताओं ने 'लेकुरे उदंड जाहली', 'एका लग्नाची गोष्ट', जैसे नाटकों को लोकप्रिय बनाया। अब तो मराठी नाटकों में सामूहिक नृत्य भी होता है।

रंगमंच का इतिहास सामाजिक परिवर्तन से भी जुड़ा है क्योंकि अत्रे, रांगणेकर के नाटकों में महिला कलाकारों ने रंगमंच पर काम करना प्रारंभ किया। उस जमाने में ज्योत्सना भोळे, मीनाक्षी, जयमाला शिलेदार जैसी अनेक अभिनेत्रियों ने रंगमंच की सेवा की। आचार्य अत्रे, पु.ल. देशपांडे ने अपने हास्य नाटकों को लोगों के बीच अजर-अमर बनाया है।

बदलते समय के अनुसार मराठी नाटक भी तकनीकी रूप से बदलता जा रहा है। इसमें नए-नए प्रयोग किये जा रहे हैं। नए-नए स्वरूप में नाटक की प्रस्तुति हो रही है। मराठी नाटकों का सेट नया मोड़ लेता नज़र आ रहा है। पहले रंगीन परदों से सेट बनाए जाते थे फिर घूमते रंगमंच का प्रयोग किया गया जिससे सेट बदलने की अवधि कम हुई। प्रकाश, ध्वनि आदि में भी नयापन आ रहा है और नाटक बदलता जा रहा है।

रंगसंगीत की परम्परा और हिन्दी रंगमंच

रंगमंच विभिन्न कलाओं का समुच्चय है—यह बात बार-बार दुहराई जाती है। हमारी रंगपरम्परा ने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूप से रंगमंच के लिए समावेशी स्वरूप को स्वीकार किया है। रंग के साथ संगीत का सम्बन्ध इसी कारण निरन्तर गहरा, महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य होता गया है। प्रतिकूलताओं के बावजूद समकालीन हिन्दी रंगमंच पर संगीत अब धीरे-धीरे अपनी निजता के महत्त्व को या स्वायत्तता को प्राप्त करने की ओर अग्रसर है। ब. व. कारंथ, पंचानन पाठक, भास्कर चन्दावरकर और मोहन उप्रेती से लेकर नई पीढ़ी के संजय उपाध्याय जैसे रंग संगीतकारों ने आधुनिक हिन्दी रंगमंच को अपनी रचनात्मकता से समृद्ध किया है।

संस्कृत रंगमंच के लिए रंगसंगीत के प्रचलन का ठोस प्रमाण नहीं मिलता। नाट्यशास्त्र के चौथे अध्याय में भरतमुनि यह संकेत अवश्य देते हैं कि अभिनय में संगीत का समावेश उसे 'चित्रसंज्ञक' बनाता है। वे अपनी प्रस्तुति 'अमृतमंथन' के बाद पूर्वरंग के अभिनय में नृत्य और गीत के कुछ प्रकारों को शामिल करने का सुझाव शिव से प्राप्त करते हैं। संस्कृत के उपलब्ध नाट्य-साहित्य में संगीत ना के बराबर दर्ज है। उपरूपकों के लक्षणों में संगीत की चर्चा है जरूर, पर नाट्यालेखों में संगीत उपलब्ध नहीं है। कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' में चार पदोंवाला एक गीत उपलब्ध है, जो संस्कृत रंगमंच पर संगीत की क्षीण उपस्थिति का प्रमाण है।

रंगसंगीत की परम्परा सम्भवतः संस्कृत रंगमंच के ह्रास-काल में आरम्भ हुई होगी। संस्कृत नाटकों में अन्य बोलियों-भाषाओं को प्रक्षेपित कर उस समय जो नया रंगमंच विकसित हुआ, उसी के साथ रंगसंगीत की विधिवत् परम्परा का आरम्भ माना जा सकता है। ऐसी प्रस्तुतियों को 'संगीतक' की संज्ञा भी दी गई है। दक्षिण से आरम्भ हुई यह परम्परा उत्तर भारत में आई और लगभग तीन-चार सौ वर्षों के बीच इसने संस्कृत रंगमंच को विस्थापित कर दिया। इस रंगमंच का बहुलांश संगीत पर आधारित था। स्थानीय जनजीवन और बोलियों-भाषाओं के प्रभाव में विभिन्न नाट्यशैलियों का उदय और विकास हुआ। इन नाट्यशैलियों ने अपने रंगसंगीत को भी आविष्कृत किया। कतिपय नाट्यशैलियों की पहचान की विशिष्टता और अनिवार्यता उसका रंगसंगीत बना। कुछ नाट्यशैलियों, जात्रा, नौटंकी, अंकिया आदि

को छोड़ दें, तो अधिकांश के पास लिखित नाटकों की परम्परा नहीं रही है। प्रायः यह स्मृति आधारित रंगमंच रहा और सृजन की आशुशक्ति की यहाँ बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। एक पीढ़ी, दूसरी पीढ़ी को गीत और कथानक सौंपती है। हर पीढ़ी इन गीतों और कथानकों के कथ्य और संवेदना को अपने समय और समाज की ध्वनियों से पूरित करती है। नई पीढ़ी का स्पर्श उसे परिवर्तित और विकसित करते रहता है। संवाद तो निरन्तर बदलते रहते हैं। बदलाव की यह प्रक्रिया रंगसंगीत को ग्रहणशील, अभिनव और जनरुचि के अनुकूल बनाती है। गीत यहाँ भावों की अभिव्यंजना के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण रंगयुक्ति के रूप में आते हैं।

पारम्परिक नाट्यशैलियों के रंगसंगीत को लेकर अक्सर तरह-तरह के प्रश्न उठते रहे हैं। इस संगीत की रंग-उपयोगिता पर सन्देह प्रकट किया जाता रहा है। अक्सर यह कहा जाता है कि यहाँ संगीत मात्र कथा को विस्तार देता है या मनोरंजनपरक होता है। इसे रंगमंच के लिए भरती का संगीत भी कहा गया है। पर यह सच नहीं है। जनरुचि के कारण संगीत के उपयोग की बहुलता की बात तो सही है, पर इसका अर्थ यह नहीं कि यहाँ संगीत रंगसृजन में उत्प्रेरक तथा प्रतिभागी तत्त्व नहीं है। कई नाट्यशैलियों की शैलीबद्धता को उसका रंगसंगीत ही अनुशासित करता है। कुछ नाट्यशैलियों में मृदंग और अन्य प्रकार के वाद्य, संवादों की संरचना से लेकर प्रस्तुति और अभिनेता की आंगिक गतियों-मुद्राओं तक को नियंत्रित-संचालित करते हैं। इन वाद्यों की ध्वनियाँ संवाद के साथ एकाकार होकर ऐसी अनुगूँज की रचना करती हैं, जिससे नई अर्थछवियाँ प्रकट होती हैं। पारम्परिक नाट्यशैलियों के रंगसंगीत ने अपने विस्तार को शास्त्रीय संगीत की सीमा तक पहुँचाया। कुछ नाट्यशैलियों के रंगसंगीत की शास्त्रीयता को स्वायत्तता भी प्राप्त हुई। मराठी के रंगसंगीत का संगीत की दुनिया में स्वतन्त्र अस्तित्व है। भागवतमेल के रंगसंगीत को शास्त्रीयता के बराबर का दर्जा हासिल है। अंकिया, नौटंकी, जात्रा, खयाल, लावनी, कीर्तनिया, बिदेसिया आदि का रंगसंगीत प्रस्तुति के दौरान रंगरचना का प्रमुख उपकरण रहा है। पारसी रंगमंच तक आते-आते रंगसंगीत का स्वरूप जरूर बदला। पारसी रंगमंच ने धन की उगाही के लिए संगीत को अनावश्यक विस्तार दिया। 'फटकेबाजी' या 'ठेका लड़ाने' की प्रथा तथा 'वंस मोर' की माँग पर संगीत की पुनरावृत्ति इसी का परिणाम थी। इस अनावश्यक विस्तार ने स्वयं पारसी रंगमंच के रंगसंगीत के उस अंश को नष्ट कर दिया, जिसके चलते नाट्यानुभूति का सृजन सम्भव था। भारतेन्दु ने अपने रंगमंच पर संगीत का उपयोग करते हुए ऐसे तत्त्वों का निषेध किया और अपने नाटकों के लिए रंगसंगीत का नया और रचनात्मक विधान आविष्कृत करने का प्रयास किया।

गीत, नृत्य और वाद्य—तीनों अलग-अलग इकाई होते हुए भी जब रंगमंच पर एकाकार होते हैं—तब संगीत की, रंगसंगीत की रचना होती है। रंगमंच पर इन्हें एक-दूसरे का पूरक बनना पड़ता है। नाटक के भीतर इनके लिए तभी स्थान बनता

है, जब ये अपनी निजता को तजकर रंगछवियों को सम्प्रेषित करें। संगीत का विस्तार, जिसमें गायन, वादन और नृत्य तीनों शामिल हैं, रंगमंच पर अभिनेता को समय के असीमित विस्तार की यात्रा पर ले जाता है। यह एक कठिन यात्रा होती है, पर रंगसंगीत इसे सहज बनाता है। मंच पर जो अदृश्य होता है, उसे रचने और दर्शकों तक उसकी रंगानुभूति को सम्प्रेषित करने में रंगसंगीत की विशेष भूमिका होती है। देह की गतियों को विशेष लय और आघात से मंच के सीमित स्पेस में प्रक्षेपित कर रंगसंगीत असीम का विस्तार रचता है। एक ऐसा विस्तार जहाँ दर्शक जीवन को उसके सम्पूर्ण महाकाव्यात्मक विस्तार, तरल संवेदनाओं और आत्मा को छूनेवाले स्पन्दनों के साथ पाता और विश्लेषित करता है। हिन्दी रंगमंच पर यह सब कारंथ जैसी प्रतिभा के बल पर सम्भव हो सका है। हिन्दी के आधुनिक रंगमंच का रंगसंगीत विकास के दौर में है। आज़ादी के बाद जो स्वरूप विकसित हुआ, वहाँ रंगसंगीत को लेकर उलझनें थीं। पर इन स्थितियों के बीच अपनी रचनात्मक सूझबूझ के चलते जिन लोगों ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया उनमें ब.व. कारंथ के साथ हबीब तनवीर का नाम भी लिया जा सकता है।

शुद्धता का आग्रह रंगसंगीत के लिए आवश्यक नहीं। अशुद्धता या मिलावट ही यहाँ रचनात्मकता की पहली शर्त है। यह नाटक के लिए या नाटक में सम्प्रेषणीयता के लिए रचा जानेवाला संगीत है। कारंथजी ने पंडित ओंकारनाथ ठाकुर से शास्त्रीय संगीत की विधिवत् शिक्षा ली थी, पर उन्होंने शास्त्रीयता को खंडित कर रंगसंगीत रचा। उन्होंने थियेटर कम्पनी में काम करते हुए अपना रंग-संस्कार ग्रहण किया था। उन्होंने यहीं पर सीखा था कि संगीत एक ऐसी युक्ति है, जिसके प्रभाव से दर्शक रंग-प्रस्तुति का हिस्सा बन जाता है यानी प्रस्तुति में शामिल हो जाता है। उन्होंने अपने रंगसंगीत की प्रयोजनमूलकता को अपने रचनात्मक स्पर्श से सशक्त रंगभाषा में बदल दिया। उनके लिए वाद्ययन्त्र और उनसे निकले शुद्ध स्वर-लय-ताल ज़्यादा महत्त्वपूर्ण नहीं थे। उन्होंने निरर्थक ध्वनियों को भी संगीत में रूपान्तरित किया। लय के संधान के लिए उन्होंने कई ऐसे विधान रचे, जहाँ संगीत की पारम्परिकता या शुद्धता को खंडित करके ही रचनात्मक उत्कर्ष पाया जा सकता था। मंच पर घटित होते रंग व्यापार और उसकी त्वरा को कारंथ रंगसंगीत से संचालित और नियन्त्रित करते थे। भारतेन्दु के प्रहसन 'अन्धेर नगरी' को अतिरंजना की युक्ति से उन्होंने प्रस्तुत किया। रंगसंगीत भी अतिरंजित था। समग्र रंग व्यवहार के साथ उनके रंगसंगीत ने मिलकर एक नए रंगानुभव को सम्प्रेषित किया। वे संवाद को लयात्मकता में और लयात्मकता को संवाद के साथ मिलाते हैं। दोनों के स्वतन्त्र चलन को मिलाकर नाटकीयता का नया स्तर रचते हुए सम्प्रेषण की कारगर पद्धति का निर्माण करते हैं। वे संवादों के लिए भाषा के आन्तरिक लय का अन्वेषण करते हैं। यह लय उनके लिए अतिरिक्त महत्त्व रखता है। इसी लय की अनगिनत छवियों को रचते हुए वह अपने रंगसंगीत

में नयापन लाते हैं। अन्धेर नगरी, वरनभवन, हयवदन, कामना, स्कन्दगुप्त आदि नाटकों में उनके रंगसंगीत ने हिन्दी रंगमंच के लिए नए रास्तों की खोज की।

नई पीढ़ी के निर्देशकों और रंगसंगीतकारों में संजय उपाध्याय ने दर्शकों का ध्यान आकर्षित किया है। संजय के रंगसंगीत की विविधता और रंगसंगीत को रंगभाषा में रूपान्तरित कर नाटक को दर्शकों तक पहुँचाने की उनकी अद्‌भुत क्षमता ने उन्हें विशिष्टता के साथ रेखांकित किया है। पिछले दिनों राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की प्रस्तुति 'गुंडा' (कथा : जयशंकर प्रसाद, नि. : चितरंजन गिरी) और श्रीराम सेन्टर रंगमंडल की प्रस्तुति 'माटीगाड़ी' (ले. : हृषीकेश सुलभ, नि. : संजय उपाध्याय) में उनके रंगसंगीत को पर्याप्त सराहना मिली। संजय उपाध्याय भोजपुरी-भाषी जनजीवन में रचे-बसे लोकसंगीत से संस्कारित हुए हैं। अभिनेता से निर्देशक और रंगसंगीतकार बनने की उनकी यात्रा में लोकसंगीत की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय का छात्र बनने से पूर्व 'भारत दुर्दशा', 'बकरी' और 'बिदेसिया' के लिए संगीत रचते हुए उन्होंने रंगसंगीत का आरम्भिक पाठ पढ़ा था। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में 'नल दमयन्ती' के लिए कारंथजी ने संगीत तैयार किया था और संजय उनके सहयोगी के रूप में संयोजन कर रहे थे। यहीं से वह अपनी रंगसंगीत की यात्रा का विधिवत् आरम्भ मानते हैं। वह मानते हैं कि कारंथ से ही उन्होंने संगीत की रंगभाषा के बारे में जाना। भास्कर चन्दावरकर, पंचानन पाठक और मोहन उप्रेती से भी उन्हें दृष्टि मिली। संजय का मानना है कि अब तक रंगसंगीत की दुनिया में कारंथ ही सबसे बड़ी प्रतिभा रहे हैं। हबीब तनवीर का संगीत उन्हें इलस्ट्रेटिव लगता है और वहाँ रंगभाषा का सम्पूर्णता में निर्माण नहीं हो पाता। वंशी कौल और रॉबिन दास को संजय उपाध्याय रंगसंगीत के मामले में सर्वाधिक सूझबूझवाले निर्देशक मानते हैं। वंशी कौल के साथ काम करते हुए उन्हें 'रचनात्मक मज़ा' आता है। वंशी कौल की रंग-प्रस्तुतियों—'तमंचा खाँ की ग़ज़ब दास्तां', 'तारा टूटा', और 'भली औरत' के लिए रंगसंगीत रचते हुए तथा 'तुक्के पर तुक्का' के संगीत की पुनर्रचना करते हुए संजय उपाध्याय ने जिन चुनौतियों का सामना किया, उनसे उन्हें भविष्य के रंगकर्म के लिए नई दिशा मिली। रॉबिन दास की प्रस्तुति 'जननेजय का नागयज्ञ' के लिए संगीत रचने के बाद उनकी अन्य प्रस्तुति 'खड़िया का घेरा' के लिए भी संजय ने रंगसंगीत तैयार किया। इसके पूर्व वह स्वयं 'खड़िया का घेरा' मंचित कर चुके थे। दूसरी बार रंगसंगीत तैयार करते हुए उन्हें अतिरिक्त रचनात्मक दबाव का सामना करना पड़ा क्योंकि यहाँ अपने ही रचे हुए को तोड़कर फिर से नया रचना था। संजय उपाध्याय का मानना है—"रंगसंगीत, सम्पूर्ण संगीत नहीं है। यह प्रयोजनमूलक संगीत है। नाटक की माँग पर रचा जानेवाला संगीत है। नाटक की अन्तर्वस्तु को खोलने—प्रस्तुत करने तथा प्रस्तुति को सहज और कलात्मक बनाने के लिए इसे रचा जाता है। इसके लिए शास्त्रीय संगीत में पारंगत होना ज़रूरी नहीं। रंगदृष्टि और सुर की पहचान...

तथा संगीत को रंगभाषा में बदलने की कला यहाँ आवश्यक है। मेरा स्रोत संगीत का कोई हिस्सा हो सकता है। मैं किसी भी परम्परा के संगीत से अपने रंगसंगीत के लिए रास्ते खोज सकता हूँ। मेरे लिए फ़िल्म संगीत, सुगम संगीत, लोकसंगीत, शास्त्रीय संगीत या दुनिया के किसी भाग का संगीत—रंगसंगीत के लिए कच्चा माल है।"

अन्धेर नगरी, जस्मा ओड़न, कम्पनी उस्ताद, उगना रे मोर कतए गेलै, हीरा डोम, बड़ा नटकिया कौन, नीलकंठ निराला, आषाढ़ का एक दिन, मालविकाग्निमित्र, गगन घटा घहरानी, दो कौड़ी का खेल, तुकुआ का शाहनामा आदि नाटकों के लिए रंगसंगीत रचनेवाले संजय उपाध्याय ने देवेन्द्र राज अंकुर (रुस्तम सोहराब, बन्द गली का आख़िरी मकान, तीसरी क़सम), सत्यदेव दुबे (चाणक्य विष्णुगुप्त), भानु भारती (गोदान), रामगोपाल बजाज (हँसिनी, बृहन्नला), अवतार साहनी (नागिन तेरा वंश बढ़े), अजय मलकानी (उलगुलान का अन्त नहीं), विजय कुमार (धूर्तसमागम, विदूषक) आदि निर्देशकों के साथ काम करते हुए हिन्दी रंगमंच के रंगसंगीत को समृद्ध किया है।

हिन्दी रंगमंच अपनी विविधता और परम्पराओं की व्यापकता के कारण प्रयोग के प्रति निरन्तर उत्सुक रहा है। यह प्रयोगधर्मिता ही हिन्दी रंगमंच की कलात्मक क्षमता के विकसित होते जाने की पहचान है। रंगसंगीत के क्षेत्र में कई निर्देशकों और रंगसंगीतकारों ने पिछले दिनों महत्त्वपूर्ण प्रयोग किए हैं। इन प्रयोगों से आधुनिक हिन्दी रंगमंच को नई रंगाभा मिली है।

नाट्य रंग संगीत को लेकर संगीत निर्देशिका अंजना पुरी के विचार :–

मेरी मां ने मुझे गाना सिखाया। मैं तब दिल्ली में रहती थी। 5-6 साल की थी तभी से संगीत की तालीम शुरू हो गई। गंधर्व महाविद्यालय से संगीत सीखा। रामपुर सदारंग परंपरा की उस्ताद सुलोचना बृहस्पति से गायकी सीखी। कॉलेज में भी संगीत ही मुख्य विषय रहा। पोस्ट ग्रेजुएट पूरा होने के बाद मैं संगीत पर आगे के शोध के लिए जर्मनी चली गई। जर्मनी से मैं हिंदुस्तान आती और यहां की शैलियों के बारे में रिसर्च सामग्री जुटाती। मुझे ये काफी अटपटा लगने लगा। मैं जर्मनी से वापस हिंदुस्तान लौट आई।

संगीत को लेकर कुछ अलग करने की मेरी तलाश और छटपटाहट बरकरार थी। मार्च 1993 में मैंने रंग-विदूषक ज्वाइन किया। यहां आकर मुझे एहसास हुआ कि रंगमंच में शास्त्रीय संगीत अपनी शास्त्रीयता के साथ बरकरार नहीं रह सकता। मेरे अंदर तोड़फोड़ शुरू हो गई। मैंने रंगमंचीय संगीत के लिए कुछ एक्सरसाइज डेवलप किए। उस वक्त एलबीटी और रंग-विदूषक के कलाकार साथ मिलकर नए प्रयोग कर रहे थे। छऊ नृत्य की गतियों का अभ्यास भी हो रहा था। हालांकि इन सबके बीच कलाकारों के संगीत की ट्रेनिंग को लेकर मैं अपनी उधेड़बुन के बावजूद जी-तोड़ मेहनत कर रही थी।

रंगकर्मियों के बीच अंजना पुरी

इसी दौरान रंग विदूषक के निर्देशक और प्रयोगधर्मी रंगकर्मी बंसी कौल (दादा) ने मुझे एक दिन संगीत को लेकर एक नया मंत्र दे दिया। बंसीजी ने कहा कि आप रंगकर्मियों को बैठकर संगीत क्यों सिखलाती हैं? खड़े होकर, मूवमेंट के साथ ध्वनियों और सुरों का अभ्यास कराएं। इसके बाद मैंने वॉयस, मूवमेंट और स्पेस को लेकर थियेटर संगीत के नए मुहावरे गढ़ने शुरू किए। कलाकारों की क्षमता के मुताबिक उनके लिए एकल और सामूहिक एक्सरसाइज तैयार किए।

थियेटर संगीत की मेरी इस यात्रा में प्रयोग के दौर चलते रहे। नब्बे के दशक के आखिरी सालों में मैंने काफी ट्रैवल किया। पश्चिम बंगाल, पूर्वोत्तर और दक्षिण भारत के कई शहरों में मैं गई। वहां के लोक आर्ट फॉर्म्स को करीब से देखा। वहां की लोक धुनों को सुना-समझा।

लोक नृत्यों की शैलियों पर बारीकी से अध्ययन किया। इन सबका इस्तेमाल मैं थियेटर म्यूजिक में करती रही। पहले अभ्यास, फिर रंगकर्म, फिर अभ्यास, फिर रंगकर्म ये सिलसिला चलता रहा। खुशी की बात ये है कि इसके साथ-साथ बतौर म्यूजिक टीचर मैं अपनी एक मेथडॉलॉजी भी तैयार करती चली जा रही थी।

संगीत का अभ्यास और संगीत पर शोध ये दोनों साथ-साथ चलते रहे। मैंने 2008 में मद्रास यूनिवर्सिटी से Voice, Rhythm and Movement: Towards a Pedagogical Model for Training the Actor with Special Reference to Indian Music Traditions – विषय पर शोध किया और विश्वविद्यालय ने डॉक्टरेट की उपाधि प्रदान की। साल 2015 में टैगोर स्कॉलरशिप के तहत Role of Contemporary Music in Modern Indian Theatre पर शोध किया। मैं अब भी खुद को संगीत की एक अध्येता मानती हूं और इस प्रक्रिया को यूं ही जारी रखना चाहती हूं।

कभी-कभी मुझे लगता है कि हिंदुस्तानी रंगकर्म में थियेटर म्यूजिक को अभी तक एक विधा के तौर पर अलग पहचान हासिल नहीं हो पाई है। हिन्दुस्तान में पहाड़, रेगिस्तान, नदियां, समुद्र अलग-अलग तरह के प्राकृतिक क्षेत्र हैं। अलग-अलग संस्कृतियां हैं। इन सबका संगीत भी अलहदा है। इस लिहाज से थियेटर संगीत का फलक कितना व्यापक है, आप खुद ही अंदाजा लगा सकते हैं। नौटंकी, तमाशा, पंडवानी, अंकिया, तेरुकेतु ये सभी अलग-अलग लोक शैलियां थियेटर संगीत के अलग-अलग रूप के तौर पर देखे और समझे जा सकते हैं।

थियेटर म्यूज़िक के बारे में जब मैं सोचती हूं तो मेरे जेहन में एक अभिनेता की स्पीच, टोन और उतार-चढ़ाव का भी ग्राफ कौंधता है। केवल रंग-प्रस्तुतियों में दो-चार गाने ही संगीत नहीं हैं। ट्रेन की आवाज़, शहर का शोर, कल-कारखानों की ध्वनियां और किसी रूई धुनने वाला का रिद्म भी थियेटर संगीत का हिस्सा हो सकता है। थियेटर संगीत की परिभाषा और दायरे को लेकर अभी और भी चिंतन-मनन करने की जरूरत है। कुछ नाटकों का जिक्र करूं तो 'जर्नी ऑफ फ्रीडम' में प्रवीण कुमार गुंजन ने ध्वनियों का बेहतरीन इस्तेमाल किया है। इसी तरह बी वी कारंथजी के नाटक 'बाबूजी' में नौटंकी गायकी की बारीकियां नज़र आ गईं थीं।

वो बताती हैं, थियेटर म्यूजिक की उनकी यात्रा बतौर कम्पोजर और बतौर शिक्षक रंग विदूषक के साथ ही शुरू हुई। 1994 में 'नैन नचैया' के जरिए उन्होंने पहली बार म्यूजिक कम्पोज किया और इस प्रस्तुति के संगीत को जो सराहना मिली, उसने उन्हें नई ऊर्जा दी। 'वो जो अक्सर झापड़ खाता है' के संगीत में उन्होंने अपनी शास्त्रीय पृष्ठभूमि की वजह से राग भैरवी को संगीत का आधार बनाया। संगीत नाटकों में 'कहन कबीर' और 'वतन का राग' 1999-2000 के दौरान तैयार किए गए। इनका संगीत एक चुनौती भी रहा तो आनंद का स्रोत भी बना। कलाकारों की टोलियां नाचतीं-गातीं संगीत के दम पर दर्शकों का भरपूर मनोरंजन करतीं।

अंजना पुरी की थियेटर संगीत की यात्रा रंग-विदूषक से शुरू जरूर हुई लेकिन उन्होंने देश के कई दूसरे समूहों के लिए भी संगीत दिया। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की कुछ प्रस्तुतियों में भी वो बतौर संगीत निर्देशक अपनी सशक्त उपस्थिति दर्ज कराती हैं। थियेटर संगीत की संगीत अकादमी अवॉर्ड से सम्मानित अंजना पुरी अपनी यात्रा को नया विस्तार देने को लालायित हैं। उनकी ख्वाहिश है कि वो देश के उन रंगकर्मियों के लिए संगीत तैयार करें जो साधन के अभाव संगीत निर्देशक को अफॉर्ड नहीं कर पाते। रिकॉर्डेड म्यूजिक को वो रंगमंच के लिए मुफीद नहीं मानती। उनका मानना है कि हर नाटक के लिए अपना संगीत तैयार होना चाहिए। जरूरत पड़े तो बाद की प्रस्तुतियों में इसका रिकॉर्डेड वर्जन इस्तेमाल हो, लेकिन रंग-संगीत की बुनियाद प्लेगरिज्म के भरोसे नहीं रखी जा सकती।

रंग संगीत के बेताज बादशाह जिन्होने ने अपने नाटको गीतो एवं संगीतो मे लोकोक्ति मुहावरे कहावतो एवं लोक भाषा का प्रयोग किया

भोजपुरी के शेक्सपीयर कहे जाने वाले लोक कलावंत **भिखारी ठाकुर** की आज **पुण्यतिथि** है। वह भोजपुरी के समर्थ लोक कलाकार होने के साथ ही रंगकर्मी, लोक जागरण के सन्देश

वाहक, नारी विमर्श एवं दलित विमर्श के उद्घोषक, लोक गीत तथा भजन कीर्तन के अनन्य साधक भी रहे हैं। वह बहुआयामी प्रतिभा के **लोक कलाकार** थे। एक साथ कवि, गीतकार, नाटककार, नाट्य निर्देशक, लोक संगीतकार और अभिनेता थे। उनकी मातृभाषा भोजपुरी थी और उन्होंने **भोजपुरी** को ही अपने काव्य और नाटक की भाषा बनाया। **राहुल सांकृत्यायन** ने उनको '**अनगढ़ हीरा**' कहा तो **जगदीशचंद्र माथुर** ने '**भरत मुनि की परंपरा का कलाकार**'। उनको '**भोजपुरी का शेक्सपीयर**' भी कहा जाता है।

तीस बारिस के भइल उमिरिया तब लागल जीव तरसे।
कहीं से गीत कवित्त कहीं से लागल अपने बरसे।

भिखारी ठाकुर लोक कलाकार ही नहीं थे, बल्कि जीवन भर **सामाजिक कुरीतियों** और **बुराइयों के खिलाफ** कई स्तरों पर जूझते रहे। उनके अभिनय एवं निर्देशन में बनी भोजपुरी फिल्म '**बिदेसिया**' आज भी लाखों-करोड़ों दर्शकों के बीच पहले जितनी ही **लोकप्रिय** है। उनके निर्देशन में भोजपुरी के नाटक '**बेटी बेचवा**', '**गबर घिचोर**', '**बेटी वियोग**' का आज भी **भोजपुरी अंचल** में **मंचन** होता रहता है। इन नाटकों और फिल्मों के माध्यम से भिखारी ठाकुर ने **सामाजिक सुधार** की दिशा में अदभुत पहलकदमी की। वह मूलतः **छपरा** (बिहार) के गांव **कुतुबपुर** के एक **हज्जाम परिवार** में जन्मे थे। फिल्म बिदेसिया की ये दो पंक्तियां तो भोजपुरी अंचल में मुहावरे की तरह आज भी गूंजती रहती हैं-

"हँसि हँसि पनवा खीऔले बेईमनवा कि अपना बसे रे परदेश।
कोरी रे चुनरिया में दगिया लगाई गइले, मारी रे करेजवा में ठेस!"

भिखारी ठाकुर के व्यक्तित्व में कई **आश्चर्यजनक विशेषताएं** थी। मात्र अक्षर ज्ञान के बावजूद पूरा **रामचरित मानस** उन्हें **कंठस्थ** था। शुरुआती जीवन में वह रोजी-रोटी के लिए अपना घर-गांव छोडकर **खड़गपुर** चले गए। कुछ वक्त तक वहां नौकरी की। तीस वर्षों तक पारंपरिक पेशे से जुड़े रहे। अपने गाँव लौटे तो लोक कलाकारों की एक **नृत्य मंडली** बनाई। रामलीला करने लगे। उनकी संगीत में भी गहरी अभिरुचि थी। सुरीला **कंठ** था। सो, वह कई स्तरों पर कला-साधना करने के साथ साथ **भोजपुरी साहित्य** की रचना में भी लगे रहे।

भिखारी ठाकुर ने कुल 29 पुस्तकें लिखीं। आगे चलकर वह भोजपुरी साहित्य और संस्कृति के समर्थ प्रचारक और संवाहक बने। बिदेसिया फिल्म से उन्हें अपार प्रसिद्धि मिली।

आजादी के आंदोलन में भिखारी ठाकुर ने अपने कलात्मक सरोकारों के साथ शिरकत की। अंग्रेजी राज के खिलाफ **नाटक मंडली** के माध्यम से जनजागरण करते रहे। इसके साथ ही

नशाखोरी, दहेज प्रथा, बेटी हत्या, बालविवाह आदि के खिलाफ अलख जगाते रहे। यद्यपि बाद में अंग्रेजों ने उन्हें **रायबहादुर** की **उपाधि** दी।

पुनीत बिसारिया लिखते हैं कि "उनकी भाषा में चुहल है, व्यंग्य है, पर वे अपनी भाषा की जादूगरी से ऐसी तमाम गांठों को खोलते हैं, जिन्हें खोलते हुए मनुष्य डरता है। भिखारी ठाकुर की रचनाओं का ऊपरी स्वरूप जितना सरल दिखाई देता है, भीतर से वह उतना ही जटिल है और हाहाकार से भरा हुआ है। इसमें प्रवेश पाना तो आसान है, पर एक बार प्रवेश पाने के बाद निकलना मुश्किल काम है। वे अपने पाठक और दर्शक पर जो प्रभाव डालते हैं, वह इतना गहरा होता है कि इससे पाठक और दर्शक का अंतरजगत उलट-पलट जाता है। यह उलट-पलट दैनंदिन जीवन में मनुष्य के साथ यात्रा पर निकल पड़ता है। इससे मुक्ति पाना कठिन है। उनकी रचनाओं के भीतर मनुष्य की चीख भरी हुई है। उनमें ऐसा दर्द है, जो आजीवन आपको बेचैन करता रहे। इसके साथ-साथ सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि गहन संकट के काल में वे आपको विश्वास देते हैं, अपने दुखों से, प्रपंचों से लड़ने की शक्ति देते हैं।अपने प्रसिद्ध नाटक '**बिदेसिया**' में भिखारी ठाकुर ने स्त्री जीवन के ऐसे प्रसंगों को अभिव्यक्ति के लिए चुना, जिन प्रसंगों से उपजने वाली पीड़ा आज भी हमारे समाज में जीवित है।"

लोकधर्मी रंगकर्म के मसीहा हबीब तनबीरः–

हबीब तनवीर विश्व-रंगमंच की एक जानी-मानी हस्ती थे। उन्होंने हिन्दी-उर्दू में प्ले लिखे, डायरेक्ट किये और अभिनय भी किया। उन्होंने चरणदास चोर, आगरा बाज़ार, कामदेव का अपना एक सपना जैसे अनेक कभी ना भुलाए जाने वाले नाटकों को लोगों तक पहुंचाया। उनके अनुसार थिएटर कि कोई सीमा नहीं है, उसमें कोई बड़ा-छोटा, अमीर-गरीब नहीं है। लोगों का सच्चा रंगमंच गांव में निवास करता है। इसी सोच को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने रंगमंच को शहर के साफ-सुथरे और सुसज्जित थिएटरों से ले कर आदिवासीयों के कस्बों तक और उन आदिवासीयों को शहरों तक पहुंचाया। उनके नाटकों में शहरी और ग्रामीण, दोनों ही लोग साथ मिल कर काम किया करते थे। उन्होंने लोकधर्मी रंगकर्म को पूरी दुनिया में प्रतिष्ठित किया और भारतीय रंगमंच को एक नया मुकाम दिया। उनका नाम देश के

बेहतरीन थिएटर कलाकारों कि सुची में शामिल है। हबीब तनवीर को थिएटर का विश्वकोष कहा जाता था।

हबीब तनवीर का जन्म 1 सितंबर 1923 में छत्तीसगढ़ के रायपुर में जिले में हुआ था। उनके पिता हफ़ीज अहमद खान पेशावर, पाकिस्तान के रहने वाले थे। स्कूली शिक्षा रायपुर और बी.ए. नागपुर के से करने के बाद वे एम.ए. करने अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी पहुंचे। उपने कॉलेज के दिनों में ही उनकी रूचि साहित्य में जागी और उन्होंने कविताएं लिखना शुरू कर दिया। उसी दौरान 'तनवीर' उनके नाम के साथ जुड़ गया। 1945 में वे मुंबई गए और ऑल इंडिया रेडियो में बतौर प्रोड्यूसर काम करने लगे। उसी दौरान उन्होंने कुछ फिल्मों में गीत लिखने के साथ अभिनय भी किया। मुंबई में हबीब ने प्रगतिशील लेखक संघ की सदस्यता ली और इंडियन पीपुल्स थियेटर एसोसिएशन (इप्टा) का प्रमुख हिस्सा बने। एक समय ऐसा आया जब इप्टा के प्रमुख सदस्यों को ब्रिटिश राज के खिलाफ़ काम करने के लिए गिरफ्तार कर लिया गया और हबीब को इप्टा की बागडोर सौंप दी गई। वर्ष 1954 में वह दिल्ली आ गए जहां उन्होंने कुदमा जैदी के 'हिन्दुस्तान थिएटर' के साथ काम किया। इस दौरान उन्होंने बच्चों के लिए थिएटर किया और कई नाटक भी लिखे। यहीं उनकी मुलाकात अभिनेत्री मोनिका मिश्रा से हुई जो बाद में उनकी धर्मपत्नी बनीं। यही वो वक़्त था जब उन्होंने अपना महत्वपूर्ण नाटक 'आगरा बाज़ार' मंचित किया।

हबीब ने दिल्ली में ही 'चरणदास चोर' नाटक लिखा जो कि 18वीं सदी के शायर नज़ीर अकबराबादी पर आधारित था। इस नाटक के लिए उन्होंने जामिया मिलिया इस्लामिया यूनिवर्सिटी के विद्यार्थियों से काम करवाया और यह थिएटर की दुनिया में पहली बार था जब नाटक किसी सभाग्रह की जगह खुले मैदान में हुआ। अगले ही वर्ष हबीब साहब इंग्लैंड चले गए और रॉयल एकेडमी ऑफ ड्रामेटिक्स आर्ट्स (राडा) में प्रशिक्षण लिया। उसके बाद दो साल तक वे यूरोप का दौरा करते रहे। हबीब ने यूरोप के अनोखे थिएटर को बारीकी से जाना, समझा और उनकी खासियत को अपने थिएटर में उतारा। यूरोप से हबीब 1958 में भारत लौटे और आने के बाद संस्कृत नाटक 'मृच्छकटिका' पर आधारित नाटक 'मिट्टी की गाड़ी' का निर्माण किया। 1959 में उन्होंने भोपाल में 'नया थिएटर' का निर्माण किया जो सचमुच ही एक नए किस्म का थिएटर था।

हबीब साहब ने नाटकों के साथ-साथ फिल्मों की पटकथा भी लिखी और 9 फिल्मों में काम किया। वर्ष 1982 में रिचर्ड एटनबरो की मशहूर फिल्म 'गांधी' में भी उन्होंने एक छोटी सी

भूमिका निभाई थी। उन्होंने अपने जीवन में अनेक राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय पुरस्कार जीते। उन्हें 1969 में संगीत नाटक अकादमी अवार्ड मिला। 1983 में उन्हे 'पद्मश्री' से सम्मानित किया गया। 1990 में कालिदास सम्मान, 996 में नाटक अकादमी फेलोशिप और 2002 में उन्हें भारत के तीसरे सर्वोच्च नागरिक सम्मान 'पद्मभूषण' से नवाज़ा गया। हबीब 6 सालों तक राज्यसभा के सदस्य भी रहे। इसके अतिरिक्त रंगमंच की इस महान शख़्सियत ने कई देशों का दौरा किया और वहां के लोगों की संस्कृति को जाना तथा अपने देश की संस्कृति से उन्हें अवगत कराया। तीन हफ्तों तक बीमार रहने के बाद 8 जून 2009 में रंगमंच के विश्वकोष हबीब तनवीर ने आखिरी सांसे ली और इस दुनिया से रूख़सत ले ली। हबीब तो नहीं रहे मगर उनके नाटक आज भी थिएटर से जुड़े लोगों के लिए प्रेरणा स्त्रोत हैं। हबीब जैसे कलाकार कभी मरते नहीं बल्की अपनी विरासत पीछे छोड़ सदा के लिए अमर हो जाते हैं।

लेक परंपराओं और जनता के संघर्षों के रंगनायक हेस्नाम कन्हाईलाल

परिचय

भारतीय रंगमंच के अप्रतिम निर्देशक हेस्नाम कन्हाईलाल का जन्म 17 जनवरी, 1941 को मणिपुर में हुआ था। उनकी पत्नी का नाम सावित्री हेस्नाम हैं, जो विख्यात रंगमंच अभिनेत्री हैं और उनके पुत्र हेस्नाम तोम्बा उभरते हुए निर्देशक हैं।

कार्यक्षेत्र

हेस्नाम ने भारतीय रंगमंच की विविधता को समृद्ध किया। उनकी रंगभाषा में पुर्वोत्तर का शरीर, मानस और वहां की लोक परंपराओं के साथ वहां की जनता का संघर्ष और प्रतिरोध भी शामिल है। उनकी रंगभाषा में पूर्वोत्तर की ध्वनियों का खेल भी था, जो उसे गहराई देता था। उनकी प्रस्तुतियां देश विदेश में मंचित हुईं और सराही गईं। कन्हाईलाल ने मणिपुर में

कलाक्षेत्र रंगमंडल की स्थापना की थी और इसके साथ वे काम करते रहे। वे देश-विदेश की विभिन्न संस्थाओं में अभिनेताओं को प्रशिक्षण भी दे चुके थे।[1]

प्रमुख प्रस्तुति

हेस्नाम कन्हाईलाल ने बहुत-सी प्रस्तुतियाँ दी, जो काफी लोकप्रिय एवं सराहनीय रहीं। उनकी कुछ प्रस्तुति निम्न प्रकार हैं-

'मेमायर्स ऑफ़ अफ़्रीका', 'कर्ण', 'पेबेट', 'डाकघर', 'अचिन गायनेर गाथा', 'द्रोपदी' इत्यादि उनकी चर्चित नाट्य प्रस्तुतियां हैं।

महाश्वेता देवी की कहानी पर आधारित उनकी प्रस्तुति 'द्रोपदी' अत्यंत प्रशंसित और विवादित रही। इसमें उनकी पत्नी सावित्री का बेमिसाल अभिनय था। प्रस्तुति के बीच एक ऐसा क्षण आता है, जब वे मंच पर अनावृत होती हैं।[2]

पुरस्कार

संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार - 1985 .

पद्मश्री - 2004 .

पद्मभूषण - 2016

निधन

हेस्नाम कन्हाईलाल का फेफड़ों के कैंसर के कारण 6 अक्टूबर, 2016 को निधन हो गया। उनके निधन से भारतीय रंगमंच का एक युगांत हो गया है।

लोक साहित्य का मर्म

साहित्य का मानव जीवन से अटूट सम्बन्ध है। ''साहित्य का जीवन से अविच्छिन्न और एकान्ततः (*ड्ढह्यश्ाद्यह्वह्लद्ग) सम्बन्ध है। यह तो सर्व मान्य बात है। साहित्य जीवन की ही आत्म कहानी है। आत्म कहानी अर्थात् स्वयं को उद्घाटित (व्यक्त) करने की

प्रक्रिया और व्यक्ति अपने आप को अभिव्यक्त करता है, अपनी नाना अन्तर्वृत्तियों के माध्यम से।''१

इस प्रकार साहित्य मानव जीवन के सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, आकर्षण-विकर्षण के ताने-बाने से निर्मित होता है और इसमें मानव की आत्मा का स्पंदन ध्वनित या प्रतिफलित होता है। मानव की भावनाओं, समस्याओं, और अनुभूतियों का साकार रूप ही साहित्य है। ''शुद्ध व जीवन्त साहित्य, मानव संवेदना और उसकी सहज वृत्तियों पर आधृत साहित्य खरे सोने की तरह सब प्रकार बाधाओं, शंकाओं और आपत्तियों का उल्लंघन, अतिक्रमण करता हुआ कोटि-कोटि युगों तक जन-मन के मानस को रससिक्त करता रहता है।''

लोक साहित्य ः

लोक साहित्य लोक मानस की सहज स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। सामान्य जन अपने सुख-दुःख, हर्ष-विषाद और आचार-विचार को जिस साहित्य के माध्यम से वाणी देता है वह लोक साहित्य है। व्यक्ति प्रकृति के साथ रहते हुए अपने हृदय की भावात्मक एवं रागात्मक अनुभूतियों को नैसर्गिक रूप से जब विविध-विधाओं में व्यक्त करता है तो वह लोक साहित्य बन जाता है।

''प्रकृति के बहुरंगी परिवेश में बदलती हुई ऋतुओं के साथ उसके हृदय देश में जो अनुभूतियाँ जागृत होती है, उन्हें वह अपने नैसर्गिक राग-बोध द्वारा गीतों के रूप में व्यक्त करता है। अपने व्यक्तिगत अथवा सामूहिक जीवन की मर्मस्पर्शी एवं प्रेरणादायक घटनाओं को भी वह गेय-गाथाओं के साँचें में ढाल देता है। कालयापन, मनोरंजन अथवा पूर्व पुरुषों एवं घटनाओं के स्मरण की दृष्टि से वह कथा-कहानियों की रचना करता है। बच्चों का जी बहलाने, उन्हें शिक्षा अथवा उपदेश देने और सामान्य लोगों के विवेक को जागृत करने के लिए उसे पहेलियों और कहावतों आदि की सृष्टि करनी पडती है। इस प्रकार लोक साहित्य की रचना एक सहज किन्तु सोद्देश्य प्रक्रिया के द्वारा सम्पन्न होती रहती है।''२

लोक शब्द का अर्थ ः

''लोक शब्द लोक 'दर्शने' धातु से बना शब्द है, जिसका अर्थ है- देखना। लोक-ऐसा स्थान जिसका बोध प्राणी को हो अथवा जिसकी उसने कल्पना की हो। वेदों में 'लोक' शब्द आम जनता का पर्यायवाची माना गया है। भगवद् गीता में लोक शब्द इसी अर्थ में प्राप्त होता है.....। आधुनिक शब्दकोश में 'लोक' शब्द के आठ अर्थ किये गये हैं। जैसे- जगत्, स्थान, प्रदेश, दिशा, लोग, प्राणी, यश, समाज आदि।''३

लोक साहित्य की परिभाषा ः

विभिन्न विद्वानों ने लोक साहित्य को इस प्रकार परिभाषित किया है-

१. डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी के अनुसार -

‘‘परम्परागत जीवन यात्रा की पद्धति जिन सामाजिक आचार-विचार, श्रद्धा के द्वारा अभिव्यक्त होता है, उसे लोक साहित्य कहते हैं।’’

इस प्रकार लोक साहित्य में निम्न तत्व हमें दिखाई देते हैं-

१. आम जनता का साहित्य ।

२. मौखिक परम्परा से प्राप्त साहित्य ।

३. लोक परम्पराओं, आस्थाओं एवं रीति-रिवाजों का प्रतीक साहित्य।

४. सरलता एवं सहजता ।

५. लोक-कला , लोक-गीत, लोक-नृत्य व लोक-वाद्य का प्रयोग।

६. आँचलिकता का समावेश ।

७. सार्वभौमिकता। .

८. निरन्तर परिवर्तनशील। .

लोक साहित्य के प्रकार ः

लोक साहित्य के निम्न प्रकार माने जाते हैं-

१.लोक-वार्ता या लोक-कहानी .

२.लोक-गाथा एवं लोक-गीत .

३.लोक नाट्य .

४.लोकोक्तियाँ एवं मुहावरे .

५.लोक नृत्य .

१.लोक-वार्ता या लोक-कहानी ः

लोक-वार्ता या लोक-कहानी साहित्य का प्राचीनतम रूप है जिसमें आम जन अपने सुख-दुःख, आचार-विचार, व भावनाओं की अभिव्यक्ति छोटी-छोटी लोक वार्ताओं के माध्यम से करता था। यही लोक वार्ताएँ धीरे-धीरे लोक कहानी का रूप लेती गई है। लोक वार्ता शब्द अंग्रेजी के ‘‘फोकलोर’’ (स्नश्ादय्यद्मद्यश्ाहम्द्ग) शब्द का अनुवाद है। इसमें आम जन के विश्वास, सामाजिक और धार्मिक भावनाएं,

रीति-रिवाज एवं परम्पराओं का वर्णन होता है। इसका प्रारम्भिक स्वरूप धर्म कथाओं के रूप

में भी मिलता है।

२. लोक-गाथा एवं लोक-गीत ः

लोक-गाथा भी लोक गीत का ही एक रूप है, जो कि पद्य रूप में या गेय रूप में कहा जाता है। इसमें प्राचीन आख्यानों एवं धार्मिक कथाओं को भी आधार बनाया जाता है। इस प्रकार जन सामान्य द्वारा रचित एवं मौखिक परम्परा में गाये जाने वाले गीत लोक गीत कहलाते हैं। डॉ. देवेन्द्र सत्यार्थी के अनुसार- ‘‘कहाँ से आते हैं इनके गीत? स्मरण-विस्मरण की आँख मिचौनी से। कुछ अट्टहास से। कुछ उदास हृदय से। कहाँ से आते हैं इनके गीत? जीवन के खेत में उगते हैं ये सब गीत। कल्पना भी अपना काम करती है। रसवृत्ति और भावना भी, मृत्यु का हिलोरा भी- पर ये सब खाद है। जीवन के सुख, जीवन के दुःख, ये है लोक गीत के बीज।’’

इस प्रकार लोक गीत भावाकुल हृदय की सहज व अनायास अभिव्यक्ति है, जिसमें भाव प्रवाह के साथ शब्द, अलंकार, छंद आदि सभी लय की कडी में बंधे झंकृत होने लगते हैं। उनकी लय गति उन भावों को अद्भुत सौन्दर्य व सम्प्रेषणीयता प्रदान करती है। इसे अकेले भी गाया जाता है और सामूहिक रूप में भी। अर्थात् व्यष्टि-समष्टि दोनों रूपों में लोक गीतों की सार्थकता है।

लोक गीतों की विशेषताएँ -

१. लय की सहजता

२. रसात्मकता

३. सामूहिक भाव - भूमि

४. स्वच्छन्दता

५. संगीतात्मकता

लोक गीतों के प्रकार-

१. संस्कार गीत

२. ऋतु वर्णन गीत

३. तीज-त्योहार एवं मेलों के गीत

४. राष्ट्रीय पर्वों के गीत

५. ऐतिहासिक गीत

६. धार्मिक गीत

७. सामाजिक गीत

३. लोक नाट्य ः

लोक नाट्य लोक जीवन के वे नाटक हैं जो आम जन के द्वारा ही छोटे-छोटे रूप मे प्रदर्शित किये जाते हैं, एवं उनका मनोरंजन करते हैं। ये रामलीला, रासलीला, भगत, स्वांग नौटंकी आदि के रूप में दिखाई देते हैं। इसमें संगीत, नृत्य और संवादों के माध्यम से किसी प्राचीन अथवा समसामयिक लोककथा को प्रस्तुत किया जाता है। ये लोक नाटक लोक जीवन के सम्पूर्ण रूप को ही अपने भीतर समेट लेता है। इसमें मनोरंजन के अलावा लोक जीवन के रीति-रिवाजों, आचार-विचार तथा उत्सव-त्योहार का प्रदर्शन करना भी इनका उद्देश्य रहता है।

४. लोकोक्तियाँ एवं मुहावरे ः

लोक जीवन में लोकोक्तियों एवं मुहावरों का प्रचलन होता है। हिन्दी की लोकोक्तियाँ व मुहावरे इसी लोक साहित्य की ही देन है। किसी भी बात को संक्षेप में एवं सारगर्भित रूप में कहने के लिए इन लोकोक्तियों एवं मुहावरों का प्रयोग सामान्य जन के द्वारा किया जाता है। लोक कथाओं, ऐतिहासिक घटनाओं व प्राज्ञ वचन से लोकोक्तियों का उद्गम होता है। प्रत्येक लोकोक्ति के मूल में जीवन का कोई न कोई अनुभूत सत्य स्थिर रहता है। इसमें शिक्षा, उपदेश, चेतावनी, व्यंग्य-हास्य आदि अनेक उद्देश्य भरे रहते हैं। डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल के शब्दों में- ‘‘लोकोक्तियाँ मानवी ज्ञान के चौखे और चुभते हुए सूत्र हैं। अनन्तकाल तक धातुओं को तपाकर सूर्य-रश्मि नाना प्रकार के रत्न-उपकरणों का निर्माण करती है, जिनका आलोक सदा छिटकता रहता है, उसी प्रकार लोकोक्तियाँ मानवी ज्ञान के घनीभूत रत्न है, जिन्हें बुद्धि और अनुभव की किरणों से फूटने वाली ज्योति प्राप्त होती है....। उनसे मनुष्य को व्यवहारिक जीवन की गुत्थियों या उलझनों को सुलझाने में बहुत सहायता मिलती है।’’ ७

इस प्रकार लोक साहित्य मानव जीवन के आदिम रागों के साथ चलने वाला साहित्य है जो कि युगीन परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। वर्तमान समय में ज्ञान-विज्ञान की प्रगति, तकनीकि उपकरणों का आविष्कार, भूमण्डलीकरण, भौतिकवाद एवं आर्थिक उदारवाद से जहाँ नये मानव मूल्यों का जैसे- व्यक्ति स्वातन्त्र्य की भावना, मानव

स्वाभिमान व विश्व बंधुत्व की भावना का विकास हुआ है, वहीं मानव जीवन का महत्व कम हो गया है। सामाजिक एवं नैतिक मूल्यों का क्षरण होता जा रहा है। व्यक्ति यंत्र बनता जा रहा है। अधिक से अधिक इंद्रिय भोग प्राप्त कर वह सबसे आगे निकल जाना चाहता है। उसकी सहृदयता समाप्त हो रही है। वह संवेदन शून्य बनता जा रहा है। मनुष्य जीवन की समस्त मर्यादाओं को तोडकर वह अहंकार, छल, कपट एवं षडयंत्रों में फँस हुआ स्वयं अपने ही बनाये मकडजाल में उलझ कर रह गया है। अर्थ की प्रधानत ने जीवन मूल्यों को जड बना दिया है। उसके भीतर का रस सूख चुका है। प्रेम, सौहार्द*, बंधुत्व एवं मानवीय सम्बन्धों कर प्राचीन परम्पराओं को नष्ट कर वह प्रकृति को भी अपनी दासी बनाना चाहता है। इसी से पारिस्थिति की असंतुलन, असामंजस्य एवं प्रदूषण जैसी विकट समस्याएं पैदा की है। ऐसे में लोक साहित्य का महत्व बढ जाता है। पं. जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है- ‘‘भारत आज जो कुछ है उसकी रचना में भारतीय जनता के प्रत्येक भाग का योगदान है। यदि हम इस बुनियादी बात को नहीं समझ पाते तो हम भारत को भी समझने में असमर्थ रहेंगे।’’८

५. लोक नृत्य ः

मानव के हृदय के आनन्द हर्ष, उत्साह, उल्लास और आह्लाद आदि भावों के अनुभूतियों के अतिरेक के प्रकटीकरण का नाम लोक नृत्य है। विभिन्न अंचलों में भिन्न-भिन्न लोक नृत्य प्रसिद्ध है जैसे-गैर, घूमर, घुडला, भवाई गरबा, रम्मत आदि। इन लोक नृत्यों से सौहार्द*, एकता, विश्व बन्धुत्व, भाईचारा, स्नेह आदि भावों का मानवीय सम्बन्धों में संचार होता है जिससे समाज में समरसता की सिद्धि प्राप्त होती है। यह इन लोक नृत्यों का सबसे बडा महत्व है।

लोक साहित्य के सरोकार –

लोक साहित्य से मनुष्य के जीवन का सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक विकास हो जाता है। अतः लोक साहित्य का मानव जीवन के विकास में गहन सरोकार है जो इस प्रकार है-

१. प्राचीन परम्पराओं का विरोध

२. उदात्त गुणों का पोषक

३. नारी की महत्ता

४. मानव-मन का सहज चितेरा

५. जीवन के प्रति आस्था का स्वर

६. निम्न एवं उपेक्षित वर्ग का हित चिन्तक

७. मानव मूल्यों की स्थापना

८. प्रकृति का साहित्य

अन्त में लोक साहित्य मानव जीवन का बौद्धिक एवं आत्मिक विकास कर उसे पशुत्व भाव से उपर उठाता है, उसमें श्रेष्ठ व उदात्त गुणों को भरता है। वह मानव की अनुभूतियों एवं मनोवृत्तियों का रागात्मक परिष्कार कर उसके अहम् को सन्तुष्ट करता है। वह वर्तमान समय में बढते भौतिकवाद से मानव के जीवन मूल्यों में स्थित अनास्था, असंतोष, कुण्ठा, निराशा, वेदना, संशय, स्वार्थ, भूख, व्यर्थता का बोध, आक्रोश भाव एवं अस्तित्व को सही दिशा प्रदान करने का कार्य करता है। ?

संदर्भ ग्रन्थों की सूची ः

१. साहित्य का मर्म एवं धर्म - सत्येन्द्र चतुर्वेदी- पृ.सं. ०६
२. २. लोक साहित्य की भूमिका - डॉ. रवीन्द्र भ्रमर पृ.सं. १३
३. लोक साहित्य की भूमिका - डॉ. बापूराव देसाई पृ.सं. १७
४. लोक साहित्य की भूमिका - डॉ. बापूराव देसाई पृ.सं. २०
५. साहित्यिक निबन्ध - राजनाथ शर्मा पृ.सं. ९४९
६. लोक साहित्य की भूमिका- डॉ. बापूराव देसाई पृ.सं. २१

स्वाधिनता संग्राम में लोक साहित्य लोक गीत एवं लोक संगीत की भूमिका

स्वतंत्रता व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है। आजादी का अर्थ सिर्फ राजनैतिक आजादी नहीं अपितु यह एक विस्तृत अवधारणा है, जिसमें व्यक्ति से लेकर राष्ट्र का हित व उसकी परम्परायें छुपी हुई हैं। कभी सोने की चिडिय़ा कहे जाने वाले भारत राष्ट्र को भी पराधीनता के दौर से गुजरना पड़ा। पर पराधीनता का यह जाल लम्बे समय तक हमें बाँध नहीं पाया और राष्ट्रभक्तों की बदौलत हम पुन: स्वतंत्र हो गये। स्वतंत्रता रूपी यह क्रान्ति करवटें लेती हुयी लोकचेतना की उत्ताल तरंगों से आप्लावित है। यह आजादी हमें यूँ ही नहीं प्राप्त हुई वरन् इसके पीछे शहादत का इतिहास है। लाल-बाल-पाल ने इस संग्राम को एक पहचान दी तो महात्मा गाँधी ने इसे अपूर्व विस्तार दिया। एक तरफ सत्याग्रह की लाठी और दूसरी तरफ भगतसिंह व आजाद जैसे क्रान्तिकारियों द्वारा पराधीनता के खीलाफ दिया गया इन्कलाब का अमोघ अस्त्र अंग्रेजी की हिंसा पर भारी पड़ा और अन्तत: 15 अगस्त 1947 के सूर्योदय ने अपनी कोमल रश्मियों से एक नये स्वाधीन भारत का स्वागत किया।

इतिहास अपनी गाथा खुद कहता है। सिर्फ पन्नों पर ही नहीं बल्कि लोकमानस के कंठ में, गीतों और किवदंतियों इत्यादि के माध्यम से यह पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्रवाहित होता रहता है। वैसे भी इतिहास की वही लिपिबद्धता सार्थक और शाश्वत होती है जो बीते हुये कल को उपलब्ध साक्ष्यों और प्रमाणों के आधार पर यथावत प्रस्तुत करती है। जरूरत है कि इतिहास की उन गाथाओं को भी समेटा जाये जो मौखिक रूप में जन-जीवन में विद्यमान है, तभी ऐतिहासिक घटनाओं का सार्थक विश्लेषण हो सकेगा। लोकलय की आत्मा में मस्ती और उत्साह की सुगन्ध है तो पीड़ा का स्वाभाविक शब्द स्वर भी। कहा जाता है कि पूरे देश में एक ही दिन 31 मई 1857 को क्रान्ति आरम्भ करने का निश्चय किया गया था, पर 29 मार्च 1857 को बैरकपुर छावनी के सिपाही मंगल पाण्डे की शहादत से उठी ज्वाला वक्त का इन्तजार नहीं कर सकी और प्रथम स्वाधीनता संग्राम का आगाज हो गया। मंगल पाण्डे के बलिदान की दास्तां को लोक चेतना में यूँ व्यक्त किया गया है-

जब सत्तावनि के रारि भइलि
बीरन के बीर पुकार भइल

बलिया का मंगल पाण्डे के
बलिवेदी से ललकार भइल
मंगल मस्ती में चूर चलल पहिला बागी मसहूर चलल
गोरनि का पलटनि का आगे
बलिया के बाँका सूर चलल।
कहा जाता है कि 1857 की क्रान्ति की जनता करे भावी सूचना देने हेतु और उनमें सोयी चेतना को जगाने हेतु 'कमलÓ और 'चपातीÓ जैसे लोकजीवन के प्रतीकों को संदेशवाहक बनाकर देश के एक कोने से दूसरे कोने तक भेजा गया। यह कालिदास के मेघदूत की तरह अतिरंजना नहीं अपितु एक सच्चाई थी। क्रान्ति का प्रतीक रहे 'कमलÓ और 'चपातीÓ का भी अपना रोचक इतिहास है। किंवदन्तियों के अनुसार एक बार नाना साहब पेशवा की भेंट पंजाब के सूफी फकीर दस्ता बाबा से हुई। दस्सा बाबा ने तीन शर्तों के आधार पर सहयोग की बात कही-सब जगह क्रान्ति एक साथ हो, क्रान्ति रात में आरम्भ हो और अंग्रेजो की महिलाओं व बच्चों का कत्लेआम न किया जाय। नाना साहब की

हामी पर अलौकिक शक्तियों वाले दस्सा बाबा ने उन्हें अभिमंत्रित कमल के बीज दिये तथा कहा कि इनका चूरा मिली आटा की चपातियाँ जहाँ-जहाँ वितरित की जायेंगी, वह क्षेत्र विजित हो जायेगा। फिर क्या था, गाँव-गाँव तक क्रान्ति का संदेश फैलाने के लिए चपातियाँ भेजी गई। कमल को तो भारतीय परम्परा में शुभ माना जाता है पर चपातियों को भेजा जाना सदैव से अंग्रेज अफसरों के लिए रहस्य बना रहा। वैसे भी चपातियों का संबंध मानव के भरण-पोषण से है। वी.डी. सावरकर ने एक जगह लिखा है कि-
'हिन्दुस्तान में जब भी क्रान्ति का मंगल कार्य हुआ, तब ही क्रान्ति-दूतों ने चपातियों द्वारा देश के एक छोर से दूसरे छोर तक इस पावन संदेश को पहुँचाने के लिये इसी प्रकार का अभियान चलाया गया था क्योंकि वेल्लोर के विद्रोह के समय में भी ऐसी ही चपातियों ने सक्रिय योगदान दिया था चपाती (रोटी) की महत्ता मौलवी इस्माईल मेरठी इन पंक्तियों में देखी जा सकती है-
मिले खुश्क रोटी जो आजाद रहकर
तो वह खौफो जिल्लत के हलवे से बेहतर
जो टूटी हुई झोंपड़ी वे जरर हो
भली उस महल से जहाँ कुछ खतर हो।

1857 की क्रान्ति वास्तव में जनमानस की क्रान्ति थी, तभी तो इसकी अनुगूँज लोक साहित्य में भी सुनाई पड़ती है। भारतीय स्वाधीनता का संग्राम सिर्फ व्यक्तियों द्वारा नही लड़ गया बल्कि कवियों और लोक गायकों ने भी लोगों को पे्ररित करने में प्रमुख भूमिका निभाई। लोगों को इस संग्राम में शामिल होने हेतु प्रकट भाव को लोकगीतों में इस प्रकार व्यक्त किया गया-

गाँव-गाँव में डुग्गी बाजल, बाबू के फिरल दुहाई
लोहा चबवाई के नेवता बा, सब जन आपन दल बदल
बाजन गंवकई के नेतवा, चूड़ी फोरवाई के नेवता
सिंदूर पोंछवाई के नेवता बा, रांड कहवार के नेवता।

राजस्थान के राष्ट्रवादी कवि शंकरदान सामोर ने मुखरता के साथ अंग्रेजो की गुलामी की बेडिय़ाँ तोड़ देने का आह्नान किया-

आयौ औसर आज, प्रजा परव पूरण पालण
आयौ औसर आज, गरब गोरां रौ गालण
आयौ औसर आज, रीत रारवण हिंदवाणी
आयौ औसर आज, विकट रण खाग बजाणी
फाल हिरण चुक्या फटक, पाछो फाल न पावसी
आजाद हिन्द करवा अवर, औसर इस्यौ न आवसी।

1857 की लड़ाई आर-पार की लड़ाई थी। हर कोई चाहता था कि वह इस संग्राम में अंग्रेजों के विरूद्ध जमकर लड़े। यहाँ तक कि ऐसे नौजवानों को जो घर में बैठे थे, महिलाओं ने लोकगीत के माध्यम से व्यंग्य कसते हुए प्रेरित किया-

लागे सरम लाज घर में बैठ जाहु
मरद से बनिके लुगइया आए हरि
पहिरि के साड़ी, चूड़ी, मुंहवा छिपाई लेहु
राखि लेई तोहरी पगरइया आए हरि।

1857 की जनक्रान्ति का गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेहीÓ ने भी बड़ा जीवन्त वर्णन किया है। उनकी कविता पढ़कर मानो 1857, चित्रपट की भाँति आँखों के सामने छा जाता है-

सम्राट बहादुरशाह 'जफरÓ, फिर आशाओं के केन्द्र बने
सेनानी निकले गाँव-गाँव, सरदार अनेक नरेन्द्र बन

लोहा इस भाँति लिया सबने, रंग फीका हुआ फिरंगी का
हिन्दू-मुस्लिम हो गये एक, रह गया न नाम दुरंगी का
अपमानित सैनिक मेरठ के, फिर स्वाभिमान से भड़क उठे
घनघोर बादलों-से गरजे, बिजली बन-बनकर का कड़क उठे
हर तरफ क्रान्ति ज्वाला दहकी, हर ओर शोर था जोरों का
पुतला बचने पाये न कहीं पर, भारत में अब गोरों का।

1857 की क्रांति की गूँज दिल्ली से दूर पूर्वी उत्तर प्रदेश के इलाकों में भी सुनाई दी थी। वैसे भी उस समय तक अंग्रेजी फौज में ज्यादातर सैनिक इन्हीं क्षेत्रों के थे। स्वतंत्रता की गाथाओं में इतिहास प्रसिद्ध चौरीचौरा की डुमरी रियासत बंधू सिंह का नाम आता है, जो कि 1857 की क्रान्ति के दौरान अंग्रेजों का सिर कलम करके और चौरीचौरा के समीप स्थित कुसुमी के जंगल में अवस्थित माँ तरकुलहा देवी के स्थान पर इसे चढ़ा देते। कहा जाता है कि एक गद्दार के चलते अंग्रजों की गिरफ्त मेंे आये बंधू सिंह को जब फाँसी दी जा रही थी, तो सात बार फाँसी का फन्दा ही टूटता रहा। यही नहीं जब फाँसी के फन्दे से उन्होंने दम तोड़ दिया तो उस पेड़ से रक्तस्राव होने लगा जहाँ बैठकर वे देवी से अंग्रेजों के खलाफ लडऩे की शक्ति माँगते थे। पूर्वांचल के अंचलों में अभी भी यह पंक्तियाँ सुनायी जाती हैं-

सात बार टूटल जब, फाँसी के रसरिया
गोरवन के अकिल गईल चकराय
असमय पड़ल माई गाढ़े में परनवा
अपने ही गोदिया में माई लेतु तू सुलाय
बंद भईल बोली रूकि गइली संसिया
नीर गोदी में बहाते, लेके बेटा के लशिया।

भारत को कभी सोने की चिडिय़ा कहा जाता था। पर अंग्रेजी राज ने हमारी सभ्यता व संस्कृति पर घोर प्रहार किये और यहाँ की अर्थव्यवस्था को भी दयनीय अवस्था में पहुँचा दिया। भारतेन्दु हरिशचन्द्र ने इस दुर्दशा का मार्मिक वर्णन किया है-

रोअहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई
हा हा! भारतदुर्दशा न देखी जाई

सबके पहिले जेहि ईश्वर धन बल दीनो
सबके पहले जेहि सभ्य विधाता कीनो
सबके पहिले जो रूप-रंग-भीनो
सबके पहिले विद्याफल जिन गहि लीनो
अब सबके पीछे सोई परत लखाई
हा हा! भारतदुर्दशा न देखी जाई।

आजादी की सौगात भीख में नहीं मिलती बल्कि उसे छीनना पड़ता है। इसके लिये जरूरी है कि समाज में कुछ नायक आगे आयें और शेष समाज उनका अनुसरण करे। ऐसे नायकों की चर्चा गाँव-गाँव की चौपालों पर देखी जा सकती थी। बिरसा मुण्डा के बारे प्रचलित एक मुंडारी लोकगीत के शब्द देखें-

तमाड़ परगना गेरडे अली हातु
बिरसा भोगवान-ए जानोम लेगा
आटा-माटा बिरको तला चलेकद रे दो
चले कद हतु रे उलगुलान लेदा।

गुरिल्ला शैली के कारण फिरंगियों में दहशत और आतंक का पर्याय बन क्रान्ति की ज्वाला भड़काने वाले तात्या टोपे से अंग्रेजी रूह भी काँपती थी फिर उनका गुणगान क्यों न हो। राजस्थानी कवि शंकरदान सामौर तात्या टोपे की महिला 'हिन्द नायकÓ के रूप में गाते हैं-

जठै गयौ जंग जीतियो, खटकै बिण रण खेत
तकड़ौ लडियाँ तांतियो, हिन्द थान रै हेत
मचायो हिन्द में आखी, तहल कौ तांतियो मोटो
धोम जेम घुमाओ लंक में हणूं घोर
रचाओ ऊजली राजपूती रो आखरी रंग
जंग में दिखायो सूवायो अथग जोर।

इसी प्रकार शंकरपुर के राना बेनीमाधव सिंह की वीरता को भी लोकगीतों में चित्रित किया गया है-

राजा बहादुर सिपाही अवध में
धूम मचाई मोरे राम रे

लिख लिख चिठिया लाट ने भेजा
आब मिलो राना भाई रे
जंगी खिलत लंदन से मंगा दूं
अवध में सूबा बनाई रे।

1857 की क्रान्ति में जिस मनोयोग से पुरूष नायकों ने भाग लिया, महिलायें भी उनसे पीछे न रहीं। लखनऊ में बेगम हजरत महल तो झाँसी में रानी लक्ष्मीबाई ने इस क्रान्ति की अगुवाई की। बेगम हजरत महल ने लखनऊ की हार के बाद अवध के ग्रामीण क्षेत्रों में जाकर क्रान्ति की चिन्गारी फैलाने का कार्य किया।

मजा हजरत ने नहीं पाई
केसर बाग लगाई
कलकत्ते से चला फिरंगी
तंबू कनात लगाई
पार उतरि लखनऊ का
आयो डेरा दिहिस लगाई
आस-पास लखनऊ का घेरा
सड़कन तोप धराईं।

रानी लक्ष्मीबाई ने अपनी वीरता से अंग्रेजों के दाँत खट्टे कर दिये। उनकी मौत पर जनरल ह्यूगरोज ने कहा था कि- 'यहाँ वह औरत सोयी हुयह है, जो विद्रेही में एकमात्र मर्द थी।Ó 'झाँसी की रानीÓ नामक अपनी कविता में सुभद्रा कुमारी चौहान 1857 की उनकी वीरता का बखान करती हैं, पर उनसे पहले ही बुंदेलखण्ड की वादियों में दूर-दूर तक लोक लय सुनाई देती है-

खूब लड़ी मरदानी, अरे झाँसी वारी रानी
पुरजन पुरजन तोपों लगा दई, गोला चलाए असमानी
अरे झाँसी वारी रानी, खूब लड़ी मरदानी
सबरे सिपाइन को पैरा जलेबी, अपन चलाई गुरधानी
दोड़ मोरचा जसकर कों दौरी, ढूढ़ेहूँ मिले नहीं पानी
अरे झाँसी वारी रानी, खूब लड़ी मरदानी।

1857 की क्रान्ति में शाहाबाद के 80 वर्षीय कुंवर सिंह को दानापुर के विद्रोही सैनिकों

द्वारा 27 जुलाई को आरा शहर पर कब्जा करने के बाद नेतृत्व की बागडोर सौंपी गयी। बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश के तमाम अंचलों में शेर बाबु कुंवर सिंह ने घूम-घूम कर 1857 की क्रान्ति की अलख जगायी। आज भी इस क्षेत्र में कुंवर सिंह को लेकर तमाम किवदन्तियाँ मौजूद है। इस क्षेत्र के अधिकतर लोकगीतों में जनाकांक्षाओं को असली रूप देने का श्रेय बाबु कुंवर सिंह को दिया गया-□

अक्सर से चले कुंवर सिंह पटना आकर टीक
पटना के मजिस्टर बोले करो कुंवर को ठीक
अतुना बात जब सुने कुंवर सिंह दी बंगला फुकवाई
गली-गली मजिस्टर रोए लाट गये घबराईं।

1857 की क्रान्ति के दौरान ज्यों-ज्यों लोगों को अंग्रेजों की पराजय का समाचार मिलता वे खुशी से झूम उठते। अजेय समझे जाने वाले अंग्रेजों का यह हश्र, उस क्रान्ति के साक्षी कवि सखवत राय ने यूँ पेश किया है-

गिद्ध मेडराई स्वान स्यार आनंद छाये
कहिं गिरे गोरा कहीं हाथी बिना सूंड के।□

1857 के प्रथम स्वाधीनता संग्राम ने अंग्रेजी हुकुमत को हिलाकर रख दिया। बौखलाकर अंगेजी हुकूमत ने लोगो को फाँसी दी, पेड़ों पर समूहों में लटका कर मृत्यु दण्ड दिया और तोपों से बाँधकर दागा-

झूलि गइलें अमिली के डरियाँ
बजरिया गोपीगंज कई रहलि।

वहीं जिन जीवित लोगों से अंग्रेजी हुकूमत को ज्यादा खतरा महसूस हुआ, उन्हें कालापानी की सजा दे दी। तभी तो अपने पति को कालापानी भेजे जाने पर एक महिला 'कजरीÓ के बोलो में कहती है-

अरे रामा नागर नैया जाला काले पनियां रे हरी
सबकर नैया जाला कासी हो बिसेसर रामा
नागर नैया जाला काले पनियां रे हरी
घरवा में रोवै नागर, माई और बहिनियां रामा
से जिया पैरोवे बारी धनिया रे हरि।

बंगाल विभाजन के दौरान स्वदेशी-बहिष्कार- प्रतिरोध का नारा खूब चला। अंग्रेजी

कपड़ों की होली जलाना और उनका बहिष्कार करना देश भक्ति का शगल बन गया था, फिर चाहे अंग्रेजी कपड़ों में ब्याह रचाने आये बाराती ही हों-

फिर जाहु-फिर जाहु घर का समधिया हो
मोर धिया रहि हैं कुंवारी
बसन उतारि सब फेंकहु विदेशिया हो
मोर पूत रहि हैं उधार
बसन सुदेसिया मंगाई पहिरबा हो
तब होइ है धिया के बियाह।

जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड अंग्रेजी हुकूमत की बर्बरता व नृशंसता का नमूना था। इस हत्याकाण्ड ने भारतीयों विशेषकर नौजवानों की आत्मा को हिलाकर रख दिया। गुलामी का इससे वीभत्स रूप हो भी नहीं सकता। सुभद्राकुमारी चौहान न ''जलियावाले बाग में बसंतÓ नामक कविता के माध्यम से श्रद्धांजलि अर्पित की है-

कोमल बालक मरे यहाँ गोली खा-खाकर
कलियाँ उनके लिए गिराना थोड़ी लाकर
आशाओं से भरे हृदय भी छिन्न हुए हैं
अपने प्रिय-परिवार देश से भिन्न हुए हैं□
कुछ कलियाँ अधखिली यहाँ इसलिए चढ़ाना
करके उनकी याद अश्रु की ओस बहाना
तड़प-तड़पकर वृद्ध मरे हैं गोली खाकर
शुष्क पुष्प कुछ वहाँ गिरा देना तुम जाकर
यह सब करना, किन्तु बहुत धीरे-से आना
यह है शोक-स्थान, यहाँ मत शोर मचाना।

कोई भी क्रान्ति बिना खून के पूरी नहीं होती, चाहे कितने ही बड़े दावें किये जायें। भारतीय स्वाधीनता संग्राम में एक ऐसा भी दौर आया जब कुछ नौजवानों ने अंग्रेजी हुकूमत की चूल हिला दी, नतीजन अंग्रेजी सराकार उन्हें जेल में डालने के लिए तड़प उठी। 11 अगस्त 1908 को जब 15 वर्षीय क्रान्तिकारी खुदीराम बोस को अंग्रेजी सरकार ने निर्ममता से फाँसी पर लटका दिया तो मशहूर उपन्यासकार प्रेमचन्द के अन्दर का देशप्रेम भी हिलोरें मारने लगा और वे खुदीराम बोस की एक तस्वीर बाजार से खरीदकर

अपने घर लाये तथा कमरे की दीवार पर टांग दिया। खुदीराम बोस को फाँसी दिये जाने से एक वर्ष पूर्व ही उन्होंने 'दुनिया का सबसे अनमोल रतनÓ नामक अपनी प्रथम कहानी लिखी थी, जिसके अनुसार-'खून की वह आखिरी बूँद जो देश की आजादी के लिये गिरे, वही दुनिया का सबसे अनमोल रतन है।Ó उस समय अंग्रेजी सैनिकों की पदचाप सुनते ही बहनें चौकन्नी हो जाती थीं। तभी तो सुभद्राकुमारी चौहान ने 'बिदाÓ में लिखा कि-

गिरफ्तार होने वाले हैं
आता है वारंट अभी
धक्-सा हुआ हृदय, मैं सहमी
हुए विकल आशंक सभी
मैं पुलकित हो उठी! यहाँ भी
आज गिरफ्तारी होगी
फिर जी घड़का, क्या भैया की
सचमुच तैयारी होगी।

आजादी के दीवाने सभी थे। हर पत्नी की दिली तमन्ना होती थी कि उसका भी पति इस दीवानगी में शामिल हो। तभी तो पत्नी पति के लिए गाती है-

जागा बलम् गाँधी टोपी वाले आई गइ लैं.....
राजगुरू सुखदेव भगत सिंह हो
तहरे जगावे बदे फाँसी पर चढ़ाय गइलै।

सरदार भगत सिंह क्रान्तिकारी आन्दोलन के अगुवा थे, जिन्होंने हँसते-हँसते फाँसी के फन्दों को चूम लिया था। एक लोकगायक भगत सिंह के इस तरह जाने को बर्दाश्त नहीं कर पाता और गाता है- एक-एक क्षण बिलम्ब का मुझे यातना दे रहा है-

तुम्हारा फंदा मेरे गरदन में छोटा क्यों पड़ रहा है
मैं एक नायक की तरह सीधा स्वर्ग में जाऊँगा
अपनी-अपनी फरियाद धर्मराज को सुनाऊँगा
मै उनसे अपना वीर भगत सिंह माँग लाऊँगा।

इसी प्रकार चन्द्रशेखर आजाद की शहादत पर उन्हें याद करते हुए एक अंगिका लोकगीत में कहा गया-

हौ आजाद त्वौं अपनौ प्राणे कस
आहुति दै के मातृभूमि कै आजाद करैलहों
तोरो कुर्बानी हम्मै जिनगगी भर नैस भुलैबे
देश तोरो रिनी रहेते।□
सुभाष चन्द्र बोस ने नारा दिया कि- 'तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आजादी दूँगाÓ, फिर क्या था पुरूषों के साथ-साथ महिलाएँ भी उनकी फौज में शामिल होने के लिए बेकरार हो उठी-
हरे रामा सुभाष चन्द्र ने फौज सजायी रे हारी
कड़ा-कड़ा पैंजनिया छोड़बै हाथ कंगनवा रामा
हरे रामा, हाथ में झण्डा लै के जुलूस निकलबैं रे हारी।
महात्मा गाँधी आजादी के दौर के सबसे बड़े नेता थे। चरखा कातने द्वारा उन्होंने स्वावलम्बन और स्वदेशी का रूझान जगाया। नौजवान अपनी-अपनी धुन में गाँधी जी को प्रेरणास्त्रोत मानते और एक स्वर में गाते-
अपने हाथे चरखा चलउबै
हमार कोऊ का करिहैं
गाँधी बाबा से लगन लगउबै
हमार कोई का करिहैं।
भारत माता की गुलामी की बेडिय़ा काटने में असंख्य लोग शहीद हो गये, बस इस आस के साथ कि आने वाली पीढिय़ाँ स्वाधीनता की बेला में साँस ले सकें। इन शहीदों की तो अब बस यादें बची हैं और इनके चलते पीढिय़ाँ मुक्त जीवन के सपने देख रही हैं। कविवर जगदम्बा प्रसाद मिश्र 'हितैषीÓ इन कुर्बानियों को व्यर्थ नहीं जाने देते-□
शहीदों की चिताओं पर जुड़ेगे हर बरस मेले
वतन पर मरने वालों का यही बाकी निशां होगा
कभी वह दिन भी आएगा, जब अपना राज देखेंगे
जब अपनी ही जमीं होगी और अपना आसमाँ होगा।
देश आजाद हुआ। 15 अगस्त 1947 के सूर्योदय की बेला में विजय का आभास हो रहा था। फिर कवि लोकमन को कैसे समझाता। आखिर उसके मन की तरंगें भी तो लोक से ही संचालित होती हैं। कवि सुमित्रानन्दन पंत इस सुखद अनुभूति को यूँ संजोते हैं-

चिर प्रणम्य यह पुण्य अहन्, जय गाओ सुरगण
आज अवतरित हुई चेतना भू पर नूतन
नव भारत, फिर चीर युगों का तमस आवरण
तरूण-अरूण-सा अदित हुआ परिदीप्त कर भुवन
सभ्य हुआ अब विश्व, सभ्य धरणी का जीवन
देश आजाद हो गया, पर अंग्रेज इस देश की सामाजिक-सांस्कृतिक-आर्थिक व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर गये। एक तरफ आजादी की उमंग, दूसरी तरफ गुलामी की छायाओं का डर..... गिरिजाकुमार माथुर 'पन्द्रह अगस्तÓ की बेला पर उल्लास भी व्यक्त करते हैं और सचेत भी करते हैं-
आज जीत की रात, पहरूए, सावधान रहना
खुले देश के द्वार, अचल दीपक समान रहना
ऊँची हुई मशाल हमारी, आगे कठिन डगर है
शत्रु हट गया, लेकिन उसकी छायाओं का डर है
शोषण से मृत है समाज, कमजोर हमारा घर है
किन्तु आ रही नई जिंदगी, यह विश्वास अमर है।
आजादी की कहानी सिर्फ एक गाथा भर नहीं है बल्कि एक दास्तान है कि क्यों हम बेडिय़ो में जकड़े, किस प्रकार की यातनायें हमने सहीं और शहीदों की किन कुर्बानियों के साथ हम आजाद हुये। यह ऐतिहासिक घटनाक्रम की मात्र एक शोभा यात्रा नहीं अपितु भारतीय स्वाभिमान का संघर्ष, राजनैतिक दमन व आर्थिक शोषण के विरूद्ध लोक चेतना का प्रबुद्ध अभिमान एवं सांस्कृतिक नवोन्मेष की दास्तान है। जरूरत है हम अपनी कमजोरियों का विश£ेषण करें, तद्नुसार उनसे लडऩे की चुनौतियाँ स्वीकारें और नए
परिवेश में नए जोश के साथ आजादी के नये अर्थो के साथ एक सुखी व समृद्ध भारत का

लोकोक्ति मुहावरे एवं कहावतें

कहावत लोकोक्ति मुहावरे 1

"कहावत" - इस शब्द का अर्थ है - "समाज में प्रचलित कथन", जिसका हम रोजमर्रा की ज़िंदगी में उपयोग करते हैं। आम लोगों के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्यों को प्रकट करने वाले संक्षिप्त किन्तु महत्त्वपूर्ण कथनों को 'कहावत' कहा जाता है।
कहावतें प्रायः सांकेतिक रूप में होती हैं। प्रायः एक भाषा की कहावतों को दूसरी भाषाओं में भी अपना लिया जाता है। भारत के विभिन्न प्रान्तों में अपने-अपने भाव, भाषा एवं वेशभूषा के अनुरूप लोक-कहावतें जन-जन के मुख पर आती रहती हैं।
इन कहावतों में मानवीय जीवन की प्रत्येक हलचल का सही चित्रण हमें देखने को मिलता है। ऐसी ही कुछ कहावतें हैं जिनमें स्वास्थ्य, खेती सुधार, उपज वृद्धि के भाव कूट-कूट कर भरे पड़े हैं। ऐसी ही कुछ कहावतें, अर्थ के साथ आपके सामने है :-

अ

कहावत लोकोक्ति मुहावरेअर्थ1- अजगर करे ना चाकरी पंछी करे ना काम,दास मलूका कह गए सब के दाता राम ..। अर्थ - अजगर को किसी की नौकरी नहीं करनी होती और पक्षी को भी कोई काम नहीं करना होता, ईश्वर ही सबका पालनहार है, इसलिए कोई भी काम मत करो ईश्वर स्वयं देगा। आलसी लोगों के लिए श्री मलूकदास जी का ये कथन बहुत ही उचित है ! 2- असाढ़ जोतो लड़के ढार, सावन भादों हरवा हैक्वार जोतो घर का बैल, तब ऊंचे उनहारे। अर्थ -किसान को आषाढ माह में साधारण जुताई करनी चाहिए, सावन भादों में अधिक, परन्तु क्वार में बहुत अधिक जुताई करें कि दिन-रात का ध्यान ना रहे, तभी अच्छी और ज़्यादा उपज होगी। 3- अधजल गगरी छलकत जाय। अर्थ - जो व्यक्ति बहुत कम जानता है, वह विद्वान ही होने का दिखावा ज़्यादा करता है। 4- अति ऊँचे भू-धारन पर भुजगन के स्थानतुलसी अति नीचे सुखद उंख अन्न असपान। अर्थ - तुलसीदास जी कहते हैं कि, खेती ऐसे ऊँचे स्थानों पर करनी चाहिए, जहाँ पर साँप रहते हों, पहाड़ों के ढाल पर उंख हो, वहीं पर अन्न और पान की अच्छी फ़सल होती है। 5- अद्रा भद्रा कृत्तिका, अद्र रेख जु मघाहि।चँदा ऊगै दूज को सुख से नरा अघाहि।। अर्थ - यदि द्वितीया का चन्द्रमा, आर्द्रा नक्षत्र, कृत्तिका, श्लेषा या मघा में अथवा भद्रा में उगे तो मनुष्य सुखी रहते हैं। 6- अखै तीज तिथि के दिना, गुरु होवे संजूत।तो भाखैं यों भड्डरी, उपजै नाज बहूत।। अर्थ - अगर वैशाख में अक्षय तृतीया को गुरुवार पड़े तो ख़ूब अन्न पैदा होगा। 7- असुनी नलिया अन्त विनासै।गली रेवती जल को नासै।।भरनी नासै तृनौ सहूतो।कृतिका बरसै अन्त बहूतो।। अर्थ

- अगर चैत माह में अश्विनी नक्षत्र में बारिश हो तो, वर्षा ऋतु के अन्त में झुरा पड़ेगा; रेतवी नक्षत्र बरसे तो वर्षा नाम मात्र की होगी; भरणी नक्षत्र बरसे तो घास भी सूख जाएगी और कृतिका नक्षत्र बरसे तो अच्छी वर्षा होगी। 8- असाढ़ मास आठें अंधियारी।जो निकले बादर जल धारी।।चन्दा निकले बादर फोड़।साढ़े तीन मास वर्षा का जोग।। अर्थ - अगर आषाढ़ माह की अष्टमी को अन्धकार छाया हुआ हो, और चन्द्रमा बादलों से निकले तो बहुत आनन्ददायी वर्षा होगी और पृथ्वी पर आनन्द की बारिश सी होगी। 9- असाढ़ मास पूनो दिवस, बादल घेरे चन्द्र।तो भड्डरी जोसी कहैं, होवे परम अनन्द।। अर्थ - अगर आषाढ़ माह की पूर्णिमा को चन्द्रमा बादलों से ढ़का रहे, तो भड्डरी ज्योतिषी कहते हैं कि उस वर्ष आनन्द ही आनन्द रहेगा। 10- अबे-तबे करना। अर्थ - आदर से न बोलना। 11- अंधों का हाथी अर्थ - किसी विषय का पूर्ण ज्ञान ना होना। 12- अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनाना। अर्थ - अपनी बड़ाई आप ही करना। 13- अब पछताए होत क्या जब चिडिया चुग गई खेत। अर्थ - समय रहते काम ना करना और नुक़सान हो जाने के बाद पछताना। जिससे कोई लाभ नहीं होता है। 14- अंडा सिखावे बच्चे को चीं-चीं मत क… अर्थ - छोटे का बड़े को उपदेश देना। 15- अंडे सेवे कोई, बच्चे लेवे को॥ अर्थ - परिश्रम कोई व्यक्ति करे और लाभ किसी दूसरे को हो जाए। 16- अंडे होंगे तो बच्चे बहुतेरे हो जाएंगे। अर्थ - मूल वस्तु प्राप्य रहेगी तो उससे बनने वाली वस्तुएँ तो निश्चित ही प्राप्त होती रहेंगी। 17- अंत भला तो सब भला। अर्थ - परिणाम अच्छा हो जाए, तो सभी कुछ अच्छा मान लिया जाता है। 18- अंत भले का भला। अर्थ - दूसरों की भलाई करने से अपना भी भला हो जाता है। 19- अढ़ाई दिन की बादशाहत। अर्थ - थोड़े दिन की शान-शौक़त। 20- अधर में लटकना या झूलना। अर्थ - द्विविधा में पड़ा रह जाना। 21- अन्न जल उठ जाना। अर्थ - किसी जगह से चले जाना। 22- अन्न न लगना। अर्थ - खा-पीकर भी मोटा न होना। 23- अपना-अपना राग अलापना। अर्थ - अपनी ही बातें कहना। 24- अपना उल्लू सीधा करना। अर्थ - अपना मतलब निकालना। 25- अपना सा मुँह लेकर रह जाना। अर्थ - लज्जित होना। 26- अपनी खाल में मस्त रहना। अर्थ - अपनी दशा से संतुष्ट रहना। 27- अपनी खिचड़ी अलग पकाना। अर्थ - अलग-थलग रहना। 28- अपने पांव पर आप कुल्हाड़ी मारना। अर्थ - अपना अहित स्वयं करना। 29- अपने पैरों पर खड़ा होना। अर्थ - स्वावलंबी होना। 30- अपने में न होना। अर्थ - होश में न होना। 31- अंधेर नगरी चौपट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा। अर्थ - जहाँ मुखिया ही मूर्ख हो, वहाँ अन्याय होता ही है। 32- अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता। अर्थ - अकेला व्यक्ति बड़ा

काम नहीं कर सकता। 33- अकेला हँसता भला न रोता भला। अर्थ - सुख-दु:ख में साथी की आवश्यता पड़ती है, व्यक्ति ना अकेला रो सकता है और ना ही अकेला हँस सकता है। 34- अक्ल बड़ी या भैंस। अर्थ - शारीरिक शक्ति का महत्त्व कम होता है, बुद्धि का अधिक। 35- अच्छी मति जो चाहो, बूढ़े पूछन जाओ। अर्थ - बड़े–बूढ़ों की सलाह से कार्य सिद्ध हो जाते हैं, क्योंकि उनका अनुभव काम आता है। 36- अब के बनिया देय उधार। अर्थ - अपनी ज़रुरत आ पड़ती है, तो आदमी सब कुछ मान जाता है, हर शर्त स्वीकार कर लेता है। 37- अटकेगा सो भटकेगा। अर्थ - दुविधा या सोच–विचार में पड़ जाते हैं, तो काम अधूरा ही रह जाता है। 38- अढ़ाई हाथ की लकड़ी, नौ हाथ का बीज। अर्थ - अनहोनी बात होना। 39- अनजान सुजान, सदा कल्याण। अर्थ - मूर्ख और ज्ञानी हमेशा सुखी रहते हैं। 40- अपना-अपना कमाना, अपना-अपना खाना। अर्थ - किसी के साथ साझा करना अच्छा नहीं होता। 41- अपना ढेंढर देखे नही, दूसरे की फुल्ली निहारे। अर्थ - अपने ढ़ेर सारे दुर्गण दिखायी नहीं देते हैं, और दूसरे के अवगुण की चर्चा करना। 42- अपना मकान कोट (क़िले) समान। अर्थ - अपने घर में जो सुख होता है, वह बाहर कहीं नहीं होता है। 43- अपना रख पराया चख। अर्थ - अपनी चीज़ सम्भाल कर रखना और दूसरों की चीज़ को इस्तेमाल करना। 44- अपना लाल गँवाय के दर-दर माँगे भीख। अर्थ - अपनी चीज़ बहुमूल्य होती है, उसे खोकर व्यक्ति दूसरों का आश्रित हो जाता है। 45- अपना ही पैसा खोया तो परखने वाले का क्या दोष। अर्थ - अपना ही सामान खराब हो तो दूसरों को दोष देना सही नहीं होता है। 46- अपनी–अपनी खाल में सब मस्त। अर्थ - व्यक्ति अपनी परिस्थिति से सतुष्ट रहे, शिकायत ना करे। 47- अपनी-अपनी तुनतुनी (ढफली), अपना-अपना राग। अर्थ - सब अलग-अलग अपना मनमाना काम कर रहे हों। 48- अपनी करनी पार उतरनी। अर्थ - खुद अपना किया काम ही फलदायक या लाभदायक होता है। 49- अपनी गरज से लोग गधे को भी बाप बनाते हैं। अर्थ - स्वार्थ के लिए व्यक्ति को छोटे आदमी की खुशामद भी करनी पड़ती है। 50- अपनी गरज बावली। अर्थ - स्वार्थ में आदमी दूसरों की चिंता नहीं करता। 51- अपनी गली में कुत्ता भी शेर। अर्थ - व्यक्ति का अपने घर में ही ज़ोर होता है। 52- अपनी गाँठ पैसा तो, पराया आसरा कैसा। अर्थ - आदमी स्वयं समर्थ हो तो किसी दूसरे पर आश्रित क्यों रहेगा। 53- अपनी चिलम भरने को मेरा झोपड़ा जलाते हो। अर्थ - अपने ज़रा से लाभ के लिए किसी दूसरे की बड़ी हानि करना। 54- अपनी छाछ को कोई खट्टा नहीं कहता। अर्थ - अपनी चीज़ को कोई बुरा नहीं बताता। 55- अपनी टाँग उघारिए, आपहि मरिए लाज। अर्थ - अपने घर की बात

दूसरों से कहने से व्यक्ति की खुद की ही बदनामी होती है। 56- अपनी नींद सोना, अपनी नींद जागना। अर्थ - पूर्ण रूप से स्वतंत्र होना। 57- अपनी नाक कटे तो कटे दूसरों का सगुन तो बिगड़े। अर्थ - दुष्ट लोग दूसरों का नुक़सान करते ही हैं, भले ही उनका अपना भी कितना ही नुक़सान हो जाए। 58- अपनी पगड़ी अपने हाथ, अर्थ - अपनी इज्जत अपने हाथ होना। 59- अपने किए का क्या इलाज। अर्थ - अपने कर्म का फल खुद भोगना ही पड़ता है। 60- अपने झोपड़े की खैर मनाओ। अर्थ - अपनी कुशल देखो या अपनी भलाई देखो। 61- अपने पूत को कोई काना नहीं कहता। अर्थ - अपनी खराब चीज़ को भी कोई खराब नहीं कहता है। 62- अपने मुँह मिया मिट्ठू बनाना। अर्थ - अपनी बड़ाई खुद ही करना। 63- अब की अब के साथ, जब की जब के साथ। अर्थ - सदा वर्तमान में ही रहना चाहिए और आज की ही चिंता करनी चाहिए। 64- अब सतवंती होकर बैठी, लूट लिया सारा संसार। अर्थ - सारी उम्र तो व्यक्ति बुरे काम करता रहा और बाद में संत बनकर बैठ जाए। 65- अभी तो तुम्हारे दूध के दाँत भी नहीं टूटे। अर्थ - अभी तो तुम्हारी उम्र कम है और अभी तुम बच्चे हो और नादान और अनजान हो। 66- अभी दिल्ली दूर है। अर्थ - अभी कसर बाकी है, अभी काम पूरा नहीं हुआ। 67- अमरी की जान प्यारी, ग़रीब को दम भारी। अर्थ - ग़रीब की जान के लाले पड़े हैं। 68- अरहर की टट्टिया, गुजराती ताला। अर्थ - मामूली वस्तु की रक्षा के लिए इतना बड़ा इन्तज़ाम। 69- अलख पुरुष की माया, कहीं धूप कहीं छाया। अर्थ - ईश्वर की लीला देखिए- कोई सुखी है और कोई दु:खी है। 70- अशर्फ़ियाँ लुटें और कोयलों पर मोहर। अर्थ - मूल्यवान वस्तु भले ही दे दें, पर छोटी-छोटी चीज़ों को बचा-बचा कर रखने की आदत। 31- अब तब करना। अर्थ - टाल देना। 72- अक्ल के पीछे लट्ठ लिए फिरना। अर्थ - मूर्खता का काम करना। 73- अक्ल पर पत्थर/परदा पड़ना। अर्थ - समझ न रहना। 74- अगर-मगर करना। अर्थ - बहाना करना। 75- अटकलें भिड़ाना। अर्थ - उपाय सोचना। 76- अठखेलियाँ सूझना। अर्थ - हँसी-दिल्लगी करना। 77- अडियल टट्टू। अर्थ - हठी, जिद्दी। 78- अड्डे पर चहकना। अर्थ - अपने घर पर रोब दिखाना। 79- अढ़ाई चावल की खिचड़ी अलग पकाना। अर्थ - सब से अलग सोच–विचार रखना। **आ**कहावत लोकोक्ति मुहावरेअर्थ1-आसमान से गिरा खजूर में अटका। अर्थ - एक मुसीबत से निकलकर दूसरी मुसीबत में फंस जाना। 2- आसाढ़ी पूनो दिना, गाज बीजु बरसंत।नासे लच्छन काल का, आनंद मानो सत।। अर्थ - आषाढ़ की पूर्णिमा को यदि बादल गरजें, बिजली चमके और पानी बरसे तो वह वर्ष बहुत सुख से बीतेगा। 3- आद्रा में जौ बोवै साठी। दु:खै मारि निकारै लाठी।। अर्थ - जो किसान आद्रा

नक्षत्र में धान बोता है वह दु:ख को लाठी मारकर भगा देता है। 4- आद्रा बरसे पुनर्वसुजाय, दीन अन्न कोऊ न खाय।। अर्थ - यदि आर्द्रा नक्षत्र में वर्षा हो और पुनर्वसु नक्षत्र में पानी न बरसे तो ऐसी फ़सल होगी कि कोई दिया हुआ अन्न नहीं खाएगा। 5- आस-पास रबी बीच में खरीफ। नोन-मिर्च डाल के, खा गया हरीफ।। अर्थ - खरीफ की फ़सल के बीच में रबी की फ़सल अच्छी नहीं होती है। 6- आँख के अंधे नाम नैनसुख। अर्थ - नाम बड़ा होना और व्यक्ति का व्यवहार और गुण उसके विपरीत होना। 7- आटे के साथ घुन भी पिसता है। अर्थ - दोषी व्यक्ति के साथ निर्दोष व्यक्ति भी मारा जाता है। 8- आदमी–आदमी अंतर, कोई हीरा कोई कंकर। अर्थ - हर आदमी का गुण और स्वाभाव दूसरे से भिन्न होता है्। 9- आम के आम गुठलियों के दाम। अर्थ - दोहरा लाभ होना। 10- आँख एक नहीं, कजरौटा दस-दस। अर्थ - व्यर्थ का आडम्बर रचना। 11- आँख ओट पहाड़ ओट। अर्थ - आँख से ओझल होने पर समझना चाहिए कि बहुत दूर हो गए। 12- आँख और कान में चार अंगुल का फ़र्क़। अर्थ - आँखों देखी बात का विश्वास करना, कानों से सुनी बात का नहीं। 13- आँख के आगे नाक, सूझे क्या खाक। अर्थ - आँख के आगे परदा पड़ा है तो क्या रास्ता सूझेगा। 14- आँख बची और माल दोस्तों का। अर्थ - पलक झपकने से माल गायब हो सकता है। 15- आँख सुख कलेजे ठंडक। अर्थ - परम शान्ति का होना। 16- आँख एक नहीं कलेजा टूक-टूक। अर्थ - बनावटी दु:ख प्रकट करना। 17- आई तो ईद, न आई तो जुम्मेरात,आई तो रोज़ी नहीं तो राज़ा। अर्थ - आमदनी हुई तो मौज ही मौज, नहीं तो फाका ही सही। 18- आई मौज फ़कीर की, दिया झोपड़ा फूँक। अर्थ - मनमौजी और विरक्त आदमी को किसी का मोह नहीं होता और ना ही किसी चीज़ की परवाह होती है । 19- आई है जान के साथ, जाएगी जनाज़े के साथ। अर्थ - लाइलाज बीमारी। 20- आओ-आओ घर तुम्हारा,खाना माँगे दुश्मन हमारा। अर्थ - झूठ-मूठ का सत्कार करना, मन ना होने पर भी आदर देना । 21- आस्तीन का साँप। अर्थ - विश्वासघाती मित्र। 22- आग का जला आग ही से अच्छा होता है। अर्थ - कष्ट देने वाली वस्तु से भी कभी कभी कष्ट का निवारण हो जाता है। 23- आग खाएगा तो अंगार उगलेगा अर्थ - बुरे काम करने का बुरा फल ही मिलता है। 24- आग बिना धुआँ नहीं। अर्थ - हर चीज़ का कारण अवश्य ही होता है। 25- आग लगने पर कुआं खोदना। अर्थ - आवश्यकता पड़ने पर काम करना, पहले से कुछ न करना। 26- आगे जाए घुटने टूट, पीछे देखे आँख फूटे। अर्थ - जिधर जाएँ उधर ही मुसीबत आना। 27- आगे नाथ न पीछे पगहा। अर्थ - किसी का भी बंधन ना होना, पूर्णत: बंधनरहित होना। 28- आज का बनिया कल का

सेठ। अर्थ - काम करते रहने से ही आदमी बड़ा हो जाता है अर्थात उन्नति करता है। 29- आज मेरी मँगनी, कल मेरा ब्याह,टूट गई टंगड़ी, रह गया ब्याह। अर्थ - उम्मीदें कभी कभी विफल भी हो जाती हैं। 30- आटे का चिराग, घर रखूँ तो चूहा खाए,बाहर रखूँ तो कौआ ले जाए। अर्थ - ऐसी वस्तु जिसे बचाने में कठिनाई हो, जिसकी रक्षा करना मुश्किल हो जाए । 31- आठ कनौजिया नौ चूल्हे। अर्थ - अलगाव की स्थिति होना। 32- आठ वार नौ त्योहार। अर्थ - मौज मस्ती से भरा जीवन जीना। 33- आदमी की दवा आदमी है। अर्थ - मनुष्य ही मनुष्य के काम आता है या मनुष्य ही मनुष्य की सहायता करते हैं। 34- आदमी को ढाई गज़ कफ़न काफ़ी है। अर्थ - आदमी बेकार की सुख-सुविधा जुटाने में लगा रहता है, जीवन के लिए ज़रूरी ज़रूरतें तो कम ही होती हैं। 35- आदमी जाने बसे, सोना जाने कसे। अर्थ - व्यक्ति व्यवहार से और सोना कसौटी पर कसने से पहचाना जाता है। 36- आदमी पानी का बुलबुला है। अर्थ - मनुष्य का जीवन नाशवान है, इसीलिए यह जीवन अनमोल है। 37- आधा तीतर आधी बटेर। अर्थ - बेमेल चीज़ों का सम्मिश्रण होना। 38- आधी छोड़ पूरी को धावे, आधी रहे ना पूरी पावे। अर्थ - अधिक लालच करने से हानि ही होती है। 39- आप काज़ महा काज़। अर्थ - अपना काम स्वयं करना ही अच्छा होता है। 40- आप न जावे सासुरे औरों को देय सीख। अर्थ - स्वयं तो काम करते नहीं और दूसरों को सीख देते हैं। 41- आप पड़ोसन लड़े। अर्थ - बिना बात ही झगड़ा करना। 42- आप भला तो जग भला। अर्थ - भले आदमी को सब लोग भले ही मिलते हैं। 43- आप मरे जग परलय। अर्थ - अपने मरने के बाद दुनिया में कुछ भी होता रहे। 44- आप मरे बिन स्वर्ग न जावे। अर्थ - अपना काम स्वयं किए बिना ठीक नहीं होता। 45- आप मियाँ जी माँगते, द्वार खड़े दरवेश। अर्थ - अपने पास कुछ भी नहीं है दूसरों की सहायता क्या करेगें। 46- आपा तजे तो हरि को भजे। अर्थ - स्वार्थ को छोड़ने से ही परमार्थ प्राप्त होता है। 47- आब–आब कर मर गया, सिरहाने रखा पानी। अर्थ - वस्तु के पास होने पर भी सही भाषा ना जानने से समस्या आती है। 48- आ बला गले लग, आ बैल मुझे मार। अर्थ - बिना बात मुसीबत मोल लेना। 49- आम खाने से काम, पेड गिनने से क्या काम। अर्थ - अपने मतलब की बात करना। 50- आए की खुशी न गए का गम। अर्थ - हर हालात में एक जैसा ही रहना। 51- आए थे हरि भजन को ओटन लगे कपास। अर्थ - उच्च लक्ष्य लेकर चलना पर कोई घटिया सा काम करने लगना। 52- आस-पास बरसे दिल्ली पड़ी तरसे। अर्थ - जिसे आवश्यकता हो उसे न मिलकर किसी और को मिलना। 53- आसमान का थूका मुँह पर आता है। अर्थ - बड़े लोगों की निंदा करने से अपनी ही बदनामी

होती है। 54- आसमान से गिरा खजूर पर अटका। अर्थ - कोई काम पूरा होते-होते रह गया, एक मुसीबत से निकले तो दूसरी मुसीबत में फंस जाना। 55- आकाश कुसुम। अर्थ - अनहोनी बात। 56- आकाश चूमना। अर्थ - बुलन्द होना। 57- आकाश से बातें करना। अर्थ - बहुत ऊँचा होना। 58- आकाश पाताल एक करना। अर्थ - कोई उपाय न छोड़ना। 59- आग पर तेल छिड़कना। अर्थ - और भड़काना। 60- आग पर पानी डालना। अर्थ - झगड़ा मिटाना। 61- आग पानी या आग और फूल का बैर होना। अर्थ - स्वाभाविक शत्रुता होना। 62- आग बबूला होना। अर्थ - बहुत गुस्सा होना। 63- आग में कूदना। अर्थ - जान जोखिम में डालना। 64- आग लगने पर कुआँ खोदना। अर्थ - पहले से कोई उपाय न कर रखना। 65- आग लगाकर तमाशा देखना। अर्थ - झगड़ा पैदा करके खुश होना। 86- आसमान सिर पर उठाना। अर्थ - बहुत हो-हल्ला मचाना। 67- आगे का पैर पीछे पड़ना। अर्थ - क़िस्मत उलटी होना। 68- आटा गीला होना। अर्थ - विपत्ति में पड़ना। 69- आसमान फट पड़ना। अर्थ - अचानक आफ़त आ पड़ना। 70- आटे दाल का भाव मालूम होना। अर्थ - दुनियादारी ज्ञात होना। 71- आठ-आठ आँसू रोना। अर्थ - बहुत पछतावा होना। 72- आड़े आना। अर्थ - मुसीबत में सहायता करना। 73- आड़े हाथों लेना। अर्थ - बातों से लज्जित कर देना। 74- आधा तीतर आधा बटेर। अर्थ - बेमेल काम। 75- आपे से बाहर होना। अर्थ - क्रोध से अपने वश में न रहना। 76- आ बनना। अर्थ - मुसीबत पड़ना। 77- आव न देखा ताव। अर्थ - बिना कारण। 78- आवाज़ उठाना। अर्थ - विरोध प्रकट करना। 79- आसन डोलना। अर्थ - विचलित होना। 80- आसमान के तारे तोड़ना। अर्थ - असंभव कार्य करना। 81- आसमान टूट पड़ना। अर्थ - अचानक विपत्ति आ पड़ना। 82- आसमान पर चढ़ा देना। अर्थ - बहुत तारीफ करना। 83- आसमान पर दिमाग होना। अर्थ - बहुत घंमडी होना।

कहावत लोकोक्ति मुहावरेअर्थ1- इतना खाए जितना पचे। अर्थ - सीमा या सामर्थ के अनुसार ही कार्य करने चाहिए। 2- इतनी सी जान, गज भर की ज़बान। अर्थ - अपनी उम्र के हिसाब से बहुत ज़्यादा और बड़ा बोलना। 3- इधर कुआँ उधर खाई। अर्थ - हर हाल में मुसीबत का आना। 4- इध्ार न उधर, यह बला किधर। अर्थ - बिना बताये अचानक विपत्ति का आ पड़ना। 5- इन तिलों में तेल नहीं। अर्थ - यहाँ से कुछ भी मिलने वाला नहीं है। 6- इसके पेट में दाढ़ी है। अर्थ - उम्र का कम होना और बुद्धि का अधिक होना। 7- इस घर का बाबा आदम ही निराला है। अर्थ - यहाँ पर सब कुछ ही विचित्र है। 8- इस हाथ ले उस हाथ

दे। अर्थ - कर्म का फल तुरंत ही मिलता है। 9- इतिश्री होना। अर्थ - अंत होना। 10- इधर-उधर की हाँकना। अर्थ - व्यर्थ की बातें करना। 11- इधर की उधर लगाना / करना। अर्थ - चुगली करके भड़काना। 12- इशारों पर नाचना। अर्थ - किसी की इच्छाओं का तुरंत पालन करना।

कहावत लोकोक्ति मुहावरेअर्थ1- ईंट की देवी, माँगे प्रसाद। अर्थ - जैसा व्यक्ति हो उसकी उसी के अनुसार वैसी ही आवभगत करनी चाहिए। 2- ईंट की लेनी, पत्थर की देनी। अर्थ - किसी की दुष्टता के बदले में और अधिक दुष्टता प्रदर्शित करना। 3- ईद का चाँद। अर्थ - बहुत दिनों के बाद दिखाई देने वाले (व्यक्ति) को ईद का चाँद कहा जाता है। 4- ईंट के पीछे टर्र। अर्थ - समय (मौक़े) के बीत जाने पर काम करना। 5- ईंट का जवाब पत्थर से देना। अर्थ - किसी के आरोपों का करारा जवाब देना। 6- ईंट से ईंट बजाना। अर्थ - विनाश करना।

कहावत लोकोक्ति मुहावरेअर्थ1-उत्रा उत्तर दै गयी, हस्त गयो मुख मोरि।भली विचारी चित्तरा, परजा लेइ बहोरि।। अर्थ - उत्तर नक्षत्र ने जवाब दे दिया और हस्त नक्षत्र भी मुंह मोड़कर चला गया। चित्रा नक्षत्र ही अच्छा है जो कि प्रजा को बसा लेता है अर्थात यदि उत्तरा और हस्त नक्षत्र में पानी न बरसे और चित्रा नक्षत्र में पानी बरस जाता है तो उपज अच्छी होती है। 2- उल्टा चोर कोतवाल को डाँटे। अर्थ - दोषी होने पर भी दोषी बताना। 3- उँगली पकड़ते ही पहुँचा पकड़ना। अर्थ - थोड़ा सा आसरा पाकर पूर्ण अधिकार पाने की हिम्मत बढ़ना। 4- उगले तो अंधा, खाए तो कोढ़ी। अर्थ - दुविधा में पड़ जाना। 5- उतर गई लोई तो क्या करेगा कोई। अर्थ - इज्ज़त न रहने पर आदमी निर्लज्ज हो जाता है, उसे मान अपमान का ध्यान नहीं रहता है। 6- उत्तर जाएं कि दक्खिन, वही करम के लक्ख़न। अर्थ - भाग्य और दुर्भाग्य हर जगह साथ देता है, व्यक्ति कहीं भी रहे। 7- उपजति एक संग जल माही,जलज जोंक जिमि गुण विलगाही अर्थ - एक पिता के बेटे भी एक जैसे नहीं होते अर्थात मूल एक होने पर भी विभिन्नताएँ देखने को मिलती हैं। 8- उलटी गंगा पहाड़ चली। अर्थ - असंभव या विपरीत बात होना, असंभव काम करने की कोशिश करना। 9- उलटे बाँस बरेली को। अर्थ - विपरीत कार्य करना, असंभव काम करने की कोशिश करना। 10- उँगलियों पर नाचना। अर्थ - किसी की इच्छाओं का तुरंत पालन करना। 11- उँगली उठाना। अर्थ - निंदा

करना। 12- उँगली पकड़ कर पहुँचा पकड़ना। अर्थ - ज़रा सा सहारा मिलते ही कुछ और पाने की लालसा करना। 13- उगल देना। अर्थ - भेद खोल देना। 14- उड़ती चिड़िया पहचानाना। अर्थ - मन की बात ताड़ जाना। 15- उड़न छू होना। अर्थ - गायब हो जाना। 16- उधार खाए बैठना। अर्थ - हठ करना। 17- उधेड़ बुन में पड़ना / रहना। अर्थ - सोच-विचार करते रहना। 18- उन्नीस पड़ना या होना। अर्थ - कुछ घटकर होना। 19- उल्टे छुरे से मूँड़ना। अर्थ - मूर्ख बनाकर ठग लेना। 20- उन्नीस-बीस होना। अर्थ - बहुत थोड़ा अन्तर होना। 21- उबल पड़ना। अर्थ - एकदम गुस्सा हो जाना। 22- उल्टी गंगा बहाना। अर्थ - उल्टा काम करना। 23- उल्टी पट्टी पढ़ाना। अर्थ - ग़लत कहकर बहकाना। 24- उल्टी माला फेरना। अर्थ - अहित सोचना।

कहावत लोकोक्ति मुहावरेअर्थ1- ऊधौ का देना ना माधौ का लेना। अर्थ - किसी का भी कर्जदार ना होना। 2- ऊँट के मुंह में ज़ीरा होना। अर्थ - आवश्यकता से बहुत कम होना। 3- ऊँची दुकान फीका पकवान। अर्थ - जहाँ बाहरी दिखावा अधिक हो और गुणकर्म बहुत ही कम हो। 4- ऊँट किस करवट बैठता है। अर्थ - निर्णय किसके पक्ष में होता है। 5- ऊँट की चोरी झुके-झुके। अर्थ - कोई भी बड़ा काम चोरी- छिपे नहीं किया जा सकता। 6- ऊँचे-नीचे पैर पड़ना। अर्थ - बुराई में पड़ जाना। 7- ऊँट का सुई की नोंक से निकलना। अर्थ - किसी की इच्छाओं का तुरंत पालन करना।

कहावत लोकोक्ति मुहावरेअर्थ1-एक पंथ दो काज अर्थ - एक काम के प्रयत्न से दो काम पूरे होना। 2- एक करेला/गिलोय, दूसरे नीम चढ़ा। अर्थ - एक दोष होने के साथ ही साथ दूसरा दोष भी होना। 3- एक अंडा वह भी गंदा। अर्थ - चीज़ भी थोड़ी है और जितनी है वह भी बेकार है। 4- एक आँख से रोवे, एक आँख से हँसे। अर्थ - दिखावटी रोना या दिखावटी काम करना। 5- एक अनार सौ बीमार। अर्थ - चीज़ का कम होना और चाहने वाले ज़्यादा होना। 6- एक आवे (आवाँ) के बर्तन। अर्थ - सब का एक जैसा होना जैसे कुम्हार के आवे (आवाँ) में सभी बर्तन एक जैसे ही पकते हैं। 7- एक और एक ग्यारह होते हैं। अर्थ - एकता में बल होता है। 8- एक के दूने से सौ के सवाये भले। अर्थ - अधिक लाभ पर कम माल बेचने की अपेक्षा कम लाभ पर अधिक माल बेचना अधिक फ़ायदेमंद होता है। 9- एक गंदी मछली

सारे तालाब को गंदा कर देती है। अर्थ - एक बुरा आदमी सारी बिरादरी की बदनामी कराता है। 10- एक टकसाल के ढले। अर्थ - सबका एक जैसा होना। 11- एक तवे की रोटी, क्या छोटी क्या मोटी। अर्थ - कोई भी भेदभाव नहीं होना अर्थात समानता का होना। 12- एक तो चोरी दूसरे सीना-जोरी। अर्थ - कोई अपराध करके अपराध न मानना और उल्टे रौब गाँठना। 13- एक (ही) थैली के चट्टे-बट्टे होना। अर्थ - एक ही जैसे दुर्गुण वाले होना। 14- एक मुँह दो बातें। अर्थ - अपनी बात से पलट जाना। 15- एक म्यान में दो तलवारें नहीं समा सकती। अर्थ - समान अधिकार वाले दो व्यक्ति एक ही क्षेत्र में नहीं रह सकते हैं। 16- एक हाथ से ताली नहीं बजती। अर्थ - झगड़े के लिए दोनों पक्ष जिम्मेदार होते हैं, एक के झगड़ा करने से झगड़ा नहीं होता है। 17- एक ही लकड़ी से सबको हाँकना। अर्थ - छोटे- बड़े का ध्यान न रखकर सबके साथ एक जैसा ही व्यवहार करना। 18- एकै साधे सब सधे, सब साधे सब जाय। अर्थ - एक समय में एक ही काम हाथ में लेना चाहिए, कई काम एक साथ करने से कोई काम सही नहीं होता है। 19- एक आँख से देखना। अर्थ - सबको बराबर समझना। 20- एक-एक नस पहचानना। अर्थ - सब कुछ समझना। 21- एक घाट का पानी पीना। अर्थ - एकता और सहनशील होना। 22- एक लकड़ी से सबको हाँकना। अर्थ - यथायोग्य व्यवहार न करना। 23- एक ही थैली के चट्टे-बट्टे। अर्थ - एक जैसे चरित्र और विचार के लोग। 24- एड़ियाँ रगड़ना। अर्थ - बहुत दौड़-धूप करना। 25- एड़ी-चोटी का पसीना एक करना। अर्थ - घोर परिश्रम करना।

कहावत लोकोक्ति मुहावरेअर्थ1- ऐसी की जूती ऐसी का सिर अर्थ - जिसकी करनी, उसी को फल मिलता है भुगतना पड़ता है। 2- ऐसे बूढ़े बैल को कौन बाँध भुसा देय। अर्थ - एक समय में एक ही काम हाथ में लेना चाहिए। 3 - ऐसी की तैसी करना। अर्थ - दुर्दशा करना

कहावत लोकोक्ति मुहावरेअर्थ1- ओछे की प्रीत,बालू की भीत। अर्थ - बालू की दीवार मजबूत नहीं होती, वह कभी भी गिर सकती है, ऐसे ही किसी भी रूप में गिरे हुए आदमी की दोस्ती भी बहुत अधिक दिनों तक नहीं चलती। 2- ओखली में सिर दिया तो मूसल का क्या डर। अर्थ - यदि कठिन कार्य हाथ में ले लिया है तो कठिनाइयों से नहीं डरना चाहिए। 3- ओस चाटे प्यास नहीं बुझती। अर्थ - बहुत थोड़ी सी वस्तु से आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती है। 4-

ओखली में सिर देना। अर्थ - जोखिम मोल लेना। 5- ओढ़नी बदलना। अर्थ - पक्की सहेलियाँ बनाना।

कहावत लोकोक्ति मुहावरेअर्थ1- औंधी खोपड़ी। अर्थ - मूर्खता से भरा। 2- औने-पौने करना। अर्थ - थोड़ा - बहुत जितना भी लाभ हो बेच देना

कहावत लोकोक्ति मुहावरेअर्थ1- आँख का अंधा नाम नैन सुख। अर्थ - नाम के अनुसार गुण न होना । 2- आंक से कोदो, नीम जवा।गाड़र गेहूं बेर चना।। अर्थ - यदि मदार खूब फूलता है तो कोदो की फ़सल अच्छी है। नीम के पेड़ में अधिक फूल-फल लगते है तो जौ की फ़सल, यदि गाड़र (एक घास जिसे खस भी कहते हैं) की वृद्धि होती है तो गेहूं, बेर और चने की फ़सल अच्छी होती है। 3- आँख आना। अर्थ - आँख दुखना। 4- आँख उठाना। अर्थ - सामने ताकना। 5- आँख उठाकर न देखना। अर्थ - तिरस्कार करना। 6- आँख का काँटा। अर्थ - शत्रु। 7- आँख का काजल। अर्थ - अत्यन्त प्रिय। 8- आँख का तारा। अर्थ - बहुत प्यारा। 9- आँख खुलना। अर्थ - सावधान होना, भ्रम दूर होना। 10- आँख मारना। अर्थ - इशारा करना। 11- आँख रखना। अर्थ - निगरानी करना। 12- आँख लगना। अर्थ - झपकी आना। 13- आँखें चार होना। अर्थ - आमने-सामने होना। 14- आँखें तरेरना। अर्थ - क्रोध से देखना। 15- आँखें नीची होना। अर्थ - लज्जित होना। 16- आँखें पथरा जाना। अर्थ - थक जाना। 17- आँखें फेर लेना। अर्थ - प्रतिकूल होना। 18- आँखें बिछाना। अर्थ - प्रेम से स्वागत करना। 19- आँखें मूँदना। अर्थ - मर जाना। 20- आँखों का काजल चुराना। अर्थ - गहरी चोरी कर लेना। 21- आँखों का पानी ढलना। अर्थ - निर्लज्ज होना। 22- आँखों पर चर्बी चढ़ना। अर्थ - अहंकार से ध्यान तक न देना। 23- आँखों में ख़ून उतरना। अर्थ - ग़ुस्से से आँखें लाल हो जाना। 24- आँखों में गड़ जाना। अर्थ - पाने की इच्छा होना, बुरा लगना। 25- आँखों में धूल झोंकना। अर्थ - धोखा देना। 26- आँखों में सरसों फूलना। अर्थ - विवेक न होना। 27- आँखों से गिरना। अर्थ - आदर भाव घट जाना। 28- आँच न आने देना। अर्थ - ज़रा सा भी कष्ट नहीं आने देना। 29- आँचल पकड़ना। अर्थ - सहारा लेना। 30- आँचल

पसारना। अर्थ - याचना करना। 31- आँधी के आम। अर्थ - सस्ती चीज़ें। 32- आँसू पीकर रह जाना। अर्थ - भीतर ही भीतर रोकर चुप कर जाना। 33- आँसू पोंछना। अर्थ - ढाढ़स बँधाना। 34- अंकुश न मानना। अर्थ - ढिठाई करना। 35- अंग-अंग खिल उठना। अर्थ - प्रसन्न हो जाना । 36- अंग-अंग फूले न समाना। अर्थ - बहुत आनंदित होना। 37- अंग टूटना। अर्थ - थकावट से शरीर में दर्द होना। 38- अंग लगना। अर्थ - ताक़त देना। 39- अंगार उगलना। अर्थ - क्रोध में बुरा-भला कहना। 40- अंगार / अंगारे बरसना। अर्थ - कड़ी धूप होना। 41- अंगारों पर पैर रखना। अर्थ - जोखिम मोल लेना। 42- अंगारों पर लोटना। अर्थ - रोष और डाह के मारे कुढ़ना। 43- अँगूठा दिखाना। अर्थ - समय पर इंकार कर देना। 44- अँगूठी का नगीना। अर्थ - सजीला और सुन्दर दूल्हा। 45- अँगूठे पर मारना। अर्थ - परवाह न करना। 46- अंगूर खट्टे होना। अर्थ - प्राप्त न हो सकने पर उस वस्तु को रद्दी बताना। 47- अंजर-पंजर ढीला होना। अर्थ - अंग-अंग ढीला होना। 48- अंटा चित्त करना। अर्थ - पछाड़ देना। 49- अंटी मारना। अर्थ - चाल चलना। 50- अंडा फूट जाना। अर्थ - भेद खुल जाना। 51- अंडे सेना। अर्थ - घर में बेकार बैठे रहना। 52- अंत पाना / लेना। अर्थ - भेद जानना। 53- अंत बिगाड़ना। अर्थ - परिणाम खराब कर लेना। 54- अँतडियाँ कुलबुलाना। अर्थ - बहुत भूख लगना। 55- अँतडियाँ गले पड़ना। अर्थ - संकट में पड़ना। 56- अँतडियों में बल पड़ना। अर्थ - पेट में दर्द होना । 57- अंदर होना। अर्थ - जेल में बंद होना। 58- अंधाधुंध लुटाना। अर्थ - बहुत अपव्यय करना। 59- अंधा बनाना। अर्थ - मूर्ख बनाकर धोखा देना। 60- अंधे की लकड़ी / लाठी। अर्थ - एकमात्र सहारा। 61- अंधे के हाथ बटेर लगना। अर्थ - बिना प्रयास बड़ी चीज पा लेना। 62- अंधेरखाता। अर्थ - अन्याय । 63- अंधेर नगरी। अर्थ - जहाँ धाँधली हो। 64- अँधेरे घर का उजाला। अर्थ - इकलौता बेटा। 65- अँधेरे में रखना। अर्थ - भेद रखना। 66- अँधों में काना राजा। अर्थ - अयोग्य के बीच कम योग्यता प्राप्त भी सम्मान पाता है। 67- अंक भरना / लगाना। अर्थ - गले लगाना

1. अंग संबंधी मुहावरे

1. अंग छूना - (कसम खाना) मैं अंग छूकर कहता हूँ साहब, मैने पाजेब नहीं देखी।
2. अंग-अंग मुसकाना-(बहुत प्रसन्न होना)- आज उसका अंग-अंग मुसकरा रहा था।
3. अंग-अंग टूटना-(सारे बदन में दर्द होना)-इस ज्वर ने तो मेरा अंग-अंग तोड़कर रख दिया।

4. अंग-अंग ढीला होना-(बहुत थक जाना)- तुम्हारे साथ कल चलूँगा। आज तो मेरा अंग-अंग ढीला हो रहा है।

2. अक्ल-संबंधी मुहावरे

1. अक्ल का दुश्मन-(मूर्ख)- वह तो निरा अक्ल का दुश्मन निकला।

2. अक्ल चकराना-(कुछ समझ में न आना)-प्रश्न-पत्र देखते ही मेरी अक्ल चकरा गई।

3. अक्ल के पीछे लठ लिए फिरना (समझाने पर भी न मानना)- तुम तो सदैव अक्ल के पीछे लठ लिए फिरते हो।

4. अक्ल के घोड़े दौड़ाना-(तरह-तरह के विचार करना)- बड़े-बड़े वैज्ञानिकों ने अक्ल के घोड़े दौड़ाए, तब कहीं वे अणुबम बना सके।

3. आँख-संबंधी मुहावरे

1. आँख दिखाना-(गुस्से से देखना)- जो हमें आँख दिखाएगा, हम उसकी आँखें फोड़ देगें।

2. आँखों में गिरना-(सम्मानरहित होना)- कुरसी की होड़ ने जनता सरकार को जनता की आँखों में गिरा दिया।

3. आँखों में धूल झोंकना-(धोखा देना)- शिवाजी मुगल पहरेदारों की आँखों में धूल झोंककर बंदीगृह से बाहर निकल गए।

4. आँख चुराना-(छिपना)- आजकल वह मुझसे आँखें चुराता फिरता है।

5. आँख मारना-(इशारा करना)-गवाह मेरे भाई का मित्र निकला, उसने उसे आँख मारी, अन्यथा वह मेरे विरुद्ध गवाही दे देता।

6. आँख तरसना-(देखने के लालायित होना)- तुम्हें देखने के लिए तो मेरी आँखें तरस गई।

7. आँख फेर लेना-(प्रतिकूल होना)- उसने आजकल मेरी ओर से आँखें फेर ली हैं।

8. आँख बिछाना-(प्रतीक्षा करना)- लोकनायक जयप्रकाश नारायण जिधर जाते थे उधर ही जनता उनके लिए आँखें बिछाए खड़ी होती थी।

9. आँखें सेंकना-(सुंदर वस्तु को देखते रहना)- आँख सेंकते रहोगे या कुछ करोगे भी

10. आँखें चार होना-(प्रेम होना,आमना-सामना होना)- आँखें चार होते ही वह खिड़की पर से हट गई।

11. आँखों का तारा-(अतिप्रिय)-आशीष अपनी माँ की आँखों का तारा है।

14. आँख लगना-(नींद आना अथवा व्यार होना)- बड़ी मुश्किल से अब उसकी आँख लगी है। आजकल आँख लगते देर नहीं होती।

4. कलेजा-संबंधी कुछ मुहावरे

1. कलेजे पर हाथ रखना-(अपने दिल से पूछना)- अपने कलेजे पर हाथ रखकर कहो कि क्या तुमने पैन नहीं तोड़ा।

2. कलेजा जलना-(तीव्र असंतोष होना)- उसकी बातें सुनकर मेरा कलेजा जल उठा।
3. कलेजा ठंडा होना-(संतोष हो जाना)- डाकुओं को पकड़ा हुआ देखकर गाँव वालों का कलेजा ठंढा हो गया।

4. कलेजा थामना-(जी कड़ा करना)- अपने एकमात्र युवा पुत्र की मृत्यु पर माता-पिता कलेजा थामकर रह गए।

5. कलेजे पर पत्थर रखना-(दुख में भी धीरज रखना)- उस बेचारे की क्या कहते हों, उसने तो कलेजे पर पत्थर रख लिया है।

6. कलेजे पर साँप लोटना-(ईर्ष्या से जलना)- श्रीराम के राज्याभिषेक का समाचार सुनकर दासी मंथरा के कलेजे पर साँप लोटने लगा।

5. कान-संबंधी कुछ मुहावरे

1. कान भरना-(चुगली करना)- अपने साथियों के विरुद्ध अध्यापक के कान भरने वाले विद्यार्थी अच्छे नहीं होते।

2. कान कतरना-(बहुत चतुर होना)- वह तो अभी से बड़े-बड़ों के कान कतरता है।
3. कान का कच्चा-(सुनते ही किसी बात पर विश्वास करना)- जो मालिक कान के कच्चे होते हैं वे भले कर्मचारियों पर भी विश्वास नहीं करते।

4. कान पर जूँ तक न रेंगना-(कुछ असर न होना)-माँ ने गौरव को बहुत समझाया, किन्तु उसके कान पर जूँ तक नहीं रेंगी।

6. नाक-संबंधी कुछ मुहावरे

1. नाक में दम करना-(बहुत तंग करना)- आतंकवादियों ने सरकार की नाक में दम कर रखा है।

2. नाक रखना-(मान रखना)- सच पूछो तो उसने सच कहकर मेरी नाक रख ली।

3. नाक रगड़ना-(दीनता दिखाना)-गिरहकट ने सिपाही के सामने खूब नाक रगड़ी, पर उसने उसे छोड़ा नहीं।

4. नाक पर मक्खी न बैठने देना-(अपने पर आँच न आने देना)-कितनी ही मुसीबतें उठाई, पर उसने नाक पर मक्खी न बैठने दी।

5. नाक कटना-(प्रतिष्ठा नष्ट होना)- अरे भैया आजकल की औलाद तो खानदान की नाक काटकर रख देती है।

7. मुँह-संबंधी कुछ मुहावरे

1. मुँह की खाना-(हार मानना)-पड़ोसी के घर के मामले में दखल देकर हरद्वारी को मुँह की खानी पड़ी।

2. मुँह में पानी भर आना-(दिल ललचाना)- लड्डुओं का नाम सुनते ही पंडितजी के मुँह में पानी भर आया।

3. मुँह खून लगना-(रिश्वत लेने की आदत पड़ जाना)- उसके मुँह खून लगा है, बिना लिए वह काम नहीं करेगा।

4. मुँह छिपाना-(लज्जित होना)- मुँह छिपाने से काम नहीं बनेगा, कुछ करके भी दिखाओ।

5. मुँह रखना-(मान रखना)-मैं तुम्हारा मुँह रखने के लिए ही प्रमोद के पास गया था, अन्यथा मुझे क्या आवश्यकता थी।

6. मुँहतोड़ जवाब देना-(कड़ा उत्तर देना)- श्याम मुँहतोड़ जवाब सुनकर फिर कुछ नहीं बोला।

7. मुँह पर कालिख पोतना-(कलंक लगाना)-बेटा तुम्हारे कुकर्मों ने मेरे मुँह पर कालिख पोत दी है।

8. मुँह उतरना-(उदास होना)-आज तुम्हारा मुँह क्यों उतरा हुआ है।

13. हवा-संबंधी मुहावरे

1. हवा लगना-(असर पड़ना)-आजकल भारतीयों को भी पश्चिम की हवा लग चुकी है।

2. हवा से बातें करना-(बहुत तेज दौड़ना)- राणा प्रताप ने ज्यों ही लगाम हिलाई, चेतक हवा से बातें करने लगा।

3. हवाई किले बनाना-(झूठी कल्पनाएँ करना)- हवाई किले ही बनाते रहोगे या कुछ करोगे भी ?

14. पानी-संबंधी मुहावरे

1. पानी-पानी होना-(लज्जित होना)-ज्योंही सोहन ने माताजी के पर्स में हाथ डाला कि ऊपर से माताजी आ गई। बस, उन्हें देखते ही वह पानी-पानी हो गया।

2. पानी में आग लगाना-(शांति भंग कर देना)-तुमने तो सदा पानी में आग लगाने का ही काम किया है।

3. पानी फेर देना-(निराश कर देना)-उसने तो मेरी आशाओं पर पानी पेर दिया।

4. पानी भरना-(तुच्छ लगना)-तुमने तो जीवन-भर पानी ही भरा है।

15. कुछ मिले-जुले मुहावरे

1. अँगूठा दिखाना-(देने से साफ इनकार कर देना)-सेठ रामलाल ने धर्मशाला के लिए पाँच हजार रुपए दान देने को कहा था, किन्तु जब मैनेजर उनसे मांगने गया तो उन्होंने अँगूठा दिखा दिया।

2. अगर-मगर करना-(टालमटोल करना)-अगर-मगर करने से अब काम चलने वाला नहीं है। बंधु !

6. ईद का चाँद-(बहुत कम दीखना)-मित्र आजकल तो तुम ईद का चाँद हो गए हो, कहाँ रहते हो ?

7. उँगली पर नचाना-(वश में करना)-आजकल की औरतें अपने पतियों को उँगलियों पर नचाती हैं।

10. कुत्ते की मौत करना-(बुरी तरह से मरना)-राष्ट्रद्रोही सदा कुत्ते की मौत मरते हैं।

11. कोल्हू का बैल-(निरंतर काम में लगे रहना)-कोल्हू का बैल बनकर भी लोग आज भरपेट भोजन नहीं पा सकते।

13. गड़े मुरदे उखाड़ना-(पिछली बातों को याद करना)-गड़े मुरदे उखाड़ने से तो अच्छा है कि अब हम चुप हो जाएँ।

14. गुलछर्रे उड़ाना-(मौज करना)-आजकल तुम तो दूसरे के माल पर गुलछर्रे उड़ा रहे हो।

18. छक्के छुड़ाना-(बुरी तरह पराजित करना)-पृथ्वीराज चौहान ने मुहम्मद गोरी के छक्के छुड़ा दिए।

22. थाली का बैंगन-(अस्थिर विचार वाला)- जो लोग थाली के बैगन होते हैं, वे किसी के सच्चे मित्र नहीं होते।

25. धज्जियाँ उड़ाना-(नष्ट-भ्रष्ट करना)-यदि कोई भी राष्ट्र हमारी स्वतंत्रता को हड़पना चाहेगा तो हम उसकी धज्जियाँ उड़ा देंगे।

26. नमक-मिर्च लगाना-(बढ़ा-चढ़ाकर कहना)-आजकल समाचारपत्र किसी भी बात को इस प्रकार नमक-मिर्च लगाकर लिखते हैं कि जनसाधारण उस पर विश्वास करने लग जाता है।

27. नौ-दो ग्यारह होना-(भाग जाना)- बिल्ली को देखते ही चूहे नौ-दो ग्यारह हो गए। 28. फूँक-फूँककर कदम रखना-(सोच-समझकर कदम बढ़ाना)-जवानी में फूँक-फूँककर कदम रखना चाहिए।

29. बाल-बाल बचना-(बड़ी कठिनाई से बचना)-गाड़ी की टक्कर होने पर मेरा मित्र बाल-बाल बच गया।

33. मिट्टी खराब करना-(बुरा हाल करना)-आजकल के नौजवानों ने बूढ़ों की मिट्टी खराब कर रखी है।

34. रंग उड़ाना-(घबरा जाना)-काले नाग को देखते ही मेरा रंग उड़ गया।

35. रफूचक्कर होना-(भाग जाना)-पुलिस को देखते ही बदमाश रफूचक्कर हो गए।

36. लोहे के चने चबाना-(बहुत कठिनाई से सामना करना)- मुगल सम्राट अकबर को राणाप्रताप के साथ टक्कर लेते समय लोहे के चने चबाने पड़े।

41. राई का पहाड़ बनाना-(छोटी-सी बात को बहुत बढ़ा देना)- तनिक-सी बात के लिए तुमने राई का पहाड़ बना दिया।

कुछ प्रचलित लोकोक्तियाँ

1. अधजल गगरी छलकत जाए-(कम गुण वाला व्यक्ति दिखावा बहुत करता है)- श्याम बातें तो ऐसी करता है जैसे हर विषय में मास्टर हो, वास्तव में उसे किसी विषय का भी पूरा ज्ञान नहीं-अधजल गगरी छलकत जाए।

   2. अब पछताए होत क्या, जब चिड़ियाँ चुग गई खेत-(समय निकल जाने पर पछताने से क्या लाभ)- सारा साल तुमने पुस्तकें खोलकर नहीं देखीं। अब पछताए होत क्या, जब चिड़ियाँ चुग गई खेत।

   3. आम के आम गुठलियों के दाम-(दुगुना लाभ)- हिन्दी पढ़ने से एक तो आप नई भाषा

सीखकर नौकरी पर पदोन्नति कर सकते हैं, दूसरे हिन्दी के उच्च साहित्य का रसास्वादन कर सकते हैं, इसे कहते हैं-आम के आम गुठलियों के दाम।

4. ऊँची दुकान फीका पकवान-(केवल ऊपरी दिखावा करना)- कनॉटप्लेस के अनेक स्टोर बड़े प्रसिद्ध है, पर सब घटिया दर्जे का माल बेचते हैं। सच है, ऊँची दुकान फीका पकवान।

5. घर का भेदी लंका ढाए-(आपसी फूट के कारण भेद खोलना)-कई व्यक्ति पहले कांग्रेस में थे, अब जनता (एस) पार्टी में मिलकर काग्रेंस की बुराई करते हैं। सच है, घर का भेदी लंका ढाए।

6. जिसकी लाठी उसकी भैंस-(शक्तिशाली की विजय होती है)- अंग्रेजों ने सेना के बल पर बंगाल पर अधिकार कर लिया था-जिसकी लाठी उसकी भैंस।

7. जल में रहकर मगर से वैर-(किसी के आश्रय में रहकर उससे शत्रुता मोल लेना)- जो भारत में रहकर विदेशों का गुणगान करते हैं, उनके लिए वही कहावत है कि जल में रहकर मगर से वैर।

2. 9. दूध का दूध पानी का पानी-(सच और झूठ का ठीक फैसला)- सरपंच ने दूध का दूध,पानी का पानी कर दिखाया, असली दोषी मंगू को ही दंड मिला।

10. दूर के ढोल सुहावने-(जो चीजें दूर से अच्छी लगती हों)- उनके मसूरी वाले बंगले की बहुत प्रशंसा सुनते थे किन्तु वहाँ दुर्गंध के मारे तंग आकर हमारे मुख से निकल ही गया-दूर के ढोल सुहावने।

11. न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी-(कारण के नष्ट होने पर कार्य न होना)- सारा दिन लड़के आमों के लिए पत्थर मारते रहते थे। हमने आँगन में से आम का वृक्ष की कटवा दिया। न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी।

12. नाच न जाने आँगन टेढ़ा-(काम करना नहीं आना और बहाने बनाना)-जब रवींद्र ने कहा कि कोई गीत सुनाइए, तो सुनील बोला, 'आज समय नहीं है'। फिर किसी दिन कहा तो कहने लगा, 'आज मूड नहीं है'। सच है, नाच न जाने आँगन टेढ़ा।

13. बिन माँगे मोती मिले, माँगे मिले न भीख-(माँगे बिना अच्छी वस्तु की प्राप्ति हो जाती है, माँगने पर साधारण भी नहीं मिलती)- अध्यापकों ने माँगों के लिए हड़ताल कर दी, पर उन्हें क्या मिला ? इनसे तो बैक कर्मचारी अच्छे रहे, उनका भत्ता बढ़ा दिया गया। बिन माँगे मोती मिले, माँगे मिले न भीख।

14. मान न मान मैं तेरा मेहमान-(जबरदस्ती किसी का मेहमान बनना)-एक अमेरिकन कहने लगा, मैं एक मास आपके पास रहकर आपके रहन-सहन का अध्ययन करूँगा। मैंने मन में कहा, अजब आदमी है, मान न मान मैं तेरा मेहमान।

15. मन चंगा तो कठौती में गंगा-(यदि मन पवित्र है तो घर ही तीर्थ है)-भैया रामेश्वरम जाकर क्या करोगे ? घर पर ही ईशस्तुति करो। मन चंगा तो कठौती में गंगा।

3. 18. बगल में छुरी मुँह में राम-राम-(भीतर से शत्रुता और ऊपर से मीठी बातें)-साम्राज्यवादी आज भी कुछ राष्ट्रों को उन्नति की आशा दिलाकर उन्हें अपने अधीन रखना चाहते हैं, परन्तु अब सभी देश समझ गए हैं कि उनकी बगल में छुरी और मुँह में राम-राम है।
4. 22. अंत भला सो भला-(जिसका परिणाम अच्छा है, वह सर्वोत्तम है)- श्याम पढ़ने में कमजोर था, लेकिन परीक्षा का समय आते-आते पूरी तैयारी कर ली और परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। इसी को कहते हैं अंत भला सो भला।

24. सौ सुनार की एक लुहार की-(निर्बल की सैकड़ों चोटों की सबल एक ही चोट से मुकाबला कर देते है)- कौरवों ने भीम को बहुत तंग किया तो वह कौरवों को गदा से पीटने लगा-सौ सुनार की एक लुहार की।

मानव जीवन में लोक साहित्य

लोकोक्ति,मुहावरे एवं कहावतो का मानव के साथ संबंध तथा समाजिक जीवन, त्योहार,उत्सवो पर इसका प्रभाव

लोकोक्ति –

मानव जीवन में एवं लोक साहित्य में कहावतों एवं लोकोक्तियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि इनका सीधा सम्बन्ध लोकमानस के लोक जीवन से रहता है। यहाँ पर एक बात ध्यान देने योग्य है कि कहावत को ही लोकोक्ति भी कहते हैं। 'लोकोक्ति' शब्द का प्रयोग कहावत के पयार्य के रूप में होता है। किसी भी सामान्य उक्ति को लोकोक्ति कहा जा सकता है, लेकिन कहावत लोक की सामान्य उक्ति न होकर एक विशेष प्रकार की सर्वग्राह्य उक्ति होती है। इसके विपरीत लोकोक्ति सर्वग्राह्य होते हुए भी एक सामान्य उक्ति होती है।

"लोकोक्तियाँ स्वनिर्मित नीतिशास्त्र हैं। यह लोकमानस के दीर्घ अनुभवों का संचित कोष है, जिसमें इतिहास, परम्परा और संस्कृति निरन्तर कुछ–न–कुछ जोड़ती रहती है। दैनंदिन जीवन की कार्य शैली और सक्रियता के दौरान जो कुछ भी रस रूप में प्राप्त होता है, उसका अर्क कहावतों और लोकोक्तियों के रूप में सामने आता है। इन अनुभव पलों का निचोड़ जब कम–से–कम शब्दों और सार्थक कथन का रूप ले लेता है तब लोकोक्तियों और कहावतों का जन्म होता है। 'जीवन अनुभवों की यही अर्क–अनुभूतियाँ लोकोक्ति साहित्य हैं।"[1] लोकोक्तियों के माध्यम से किसी भाषा के बोलने वालों की संस्कृति का अध्ययन सुविधाजनक किया जा सकता है, क्योंकि किसी स्थान विशेष की संस्कृति का पूर्ण प्रतिबिम्ब लोकोक्तियों में आसानी से प्राप्त हो जाता है। लोकोक्तियाँ लोक संस्कृति का मुखबोध ही नहीं होती, गतिशील सिद्धान्त भी होते हैं। जिन्हें लोकमानस सदैव संजोकर रखता है और विरासत में आने वाली पीढ़ी को दे जाता है।

लोकोक्ति की व्युत्पत्ति–

लोकोक्ति शब्द 'लोक'+'उक्ति' इन दो शब्दों के मेल से बना है, जिसका अर्थ है– लोक में प्रचलित उक्ति। "परन्तु लोक की प्रत्येक उक्ति 'लोकोक्ति' नहीं होती है। अब यह शब्द विशिष्ट अर्थ में सीमित और रूढ़ हो गया है। लोक प्रचलित कुछ विशिष्ट प्रकार की उक्तियों को ही लोकोक्ति कहते हैं।"[2]

"लोकोक्ति शब्द संस्कृत में भी मिलता है। प्रारम्भ में तो इसका अर्थ लोक–प्रचलित कोई भी उक्ति था, किन्तु बाद में इसका वही अर्थ हो गया जो आज हिन्दी में है। आज के अर्थ में यह शब्द पंचतंत्र तथा कुछ अन्य संस्कृत ग्रन्थों में मिलता है। काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में 'लोकोक्ति' का प्रयोग अलंकार के एक नाम के रूप में हुआ है। कुवलयानन्द (117) में आता है लोकप्रवादनुकृतिलोकोक्तिरिति मन्यते। जब किसी छन्द में किसी लोकोक्ति का प्रयोग किया जाए तो लोकोक्ति अलंकार होता है।"[1] "लोकोक्ति' और 'कहावत' शब्द यद्यपि आज सामान्यतः पर्याय रूप में प्रयुक्त हो रहे हैं, किन्तु उनमें इस रूप में अंतर किया जा सकता है कि 'कहावत' वे है जिनका सम्बन्ध किसी कथा से हो, अर्थात् कथायुक्त लोकोक्तियाँ ही 'कहावत' हैं। इसके विपरीत 'लोकोक्ति' सभी हैं, चाहे उनका सम्बनध किसी कथा से हो न हो। दूसरे शब्दों में सभी कहावतें लोकोक्तियाँ हैं किन्तु सभी लोकोक्तियाँ कहावतें नहीं हैं।"[2]

उपर्युक्त कथन के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में भी 'लोकोक्ति' एवं 'कहावत' शब्द को एक दूसरे के पयार्य रूप में ही प्रयुक्त किया गया है।

लोकोक्ति अथवा कहावत की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने अपने–अपने मतों का प्रतिपादन किया है। संक्षेप में उनका वर्णन यहाँ किया जा रहा है–

कृष्णदेव उपाध्याय के अनुसार, "लोकोक्ति की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। अनुसंधान करने से पता चलता है कि वेदों में भी इनकी सत्ता उपलब्ध है। उपनिषदों में भी लोकोक्तियों की कमी नहीं है। संस्कृत साहित्य में भी प्रचुर परिणाम में पाई जाती है।"[3]

लेखक राजेन्द्र रंजन चतुर्वेदी लिखते हैं, "किसी भी समाज में प्रचलित लोकोक्ति, उसकी लोक चेतना होती है। लोकोक्ति का जन्म तथा विकास लोक–जीवन की परिस्थितियों के गर्भ से होता है। जीवन के सत्य की अनुभूति जिन्दगी के द्वारा ही होती है। समाज में कितनी ही जिन्दगियाँ अतीत हो जाती है, तब कहीं जाकर जिन्दगी

काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में 'लोकोक्ति' का प्रयोग अलंकार के एक नाम के रूप में हुआ है। कुवलयानन्द (117) में आता है लोकप्रवादनुकृतिलोकोक्तिरिति मन्यते। जब किसी छन्द में किसी लोकोक्ति का प्रयोग किया जाए तो लोकोक्ति अलंकार होता है।"[1] "लोकोक्ति' और 'कहावत' शब्द यद्यपि आज सामान्यतः पर्याय रूप में प्रयुक्त हो रहे हैं, किन्तु उनमें इस रूप में अंतर किया जा सकता है कि 'कहावत' वे है जिनका सम्बन्ध किसी कथा से हो, अर्थात् कथायुक्त लोकोक्तियाँ ही 'कहावत' हैं। इसके विपरीत 'लोकोक्ति' सभी हैं, चाहे उनका सम्बनध किसी कथा से हो न हो। दूसरे शब्दों में सभी कहावतें लोकोक्तियाँ हैं किन्तु सभी लोकोक्तियाँ कहावतें नहीं हैं।"[2]

उपर्युक्त कथन के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में भी 'लोकोक्ति' एवं 'कहावत' शब्द को एक दूसरे के पयार्य रूप में ही प्रयुक्त किया गया है।

लोकोक्ति अथवा कहावत की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने अपने–अपने मतों का प्रतिपादन किया है। संक्षेप में उनका वर्णन यहाँ किया जा रहा है–

कृष्णदेव उपाध्याय के अनुसार, "लोकोक्ति की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। अनुसंधान करने से पता चलता है कि वेदों में भी इनकी सत्ता उपलब्ध है। उपनिषदों में भी लोकोक्तियों की कमी नहीं है। संस्कृत साहित्य में भी प्रचुर परिणाम में पाई जाती है।"[3]

लेखक राजेन्द्र रंजन चतुर्वेदी लिखते हैं, "किसी भी समाज में प्रचलित लोकोक्ति, उसकी लोक चेतना होती है। लोकोक्ति का जन्म तथा विकास लोक–जीवन की परिस्थितियों के गर्भ से होता है। जीवन के सत्य की अनुभूति जिन्दगी के द्वारा ही होती है। समाज में कितनी ही जिन्दगियाँ अतीत हो जाती है, तब कहीं जाकर जिन्दगी

के एक 'निष्कर्ष' अथवा सत्य का साक्षात्कार होता है तथा जब लोक जीवन बार–बार उसे परख लेता है तभी एक 'लोकोक्ति' का निर्माण होता है।"[1] कहावत का मूल रूप कथावत है और ये कथाओं की ही तरह लोक में प्रसिद्ध है। इनका आधार कथाओं का ही खण्डित–मण्डित रूप है, इसी कारण कहावत को लोकोक्ति भी कहते हैं। प्राकृत व्याकरण के नियम के अनुसार 'थ' का 'ह' हो जाता है। प्लेटों ने 'कहावत' शब्द की व्युत्पत्ति 'कथावत्' मानी है अर्थात् कहावत उसे कहते हैं जिसके मूल में कोई कथा हो।

कन्हैया लाला सहल कहावत शब्द का अर्थ 'कही हुई बात' मानते हैं। कहावत की व्युत्पत्ति के बारे में अपने मत का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने कहा है कि कहावत शब्द का अर्थ हो सकता है– कही हुई बात। उस हालत में कहावत का वत, बात, वार्ता का रूपान्तर माना जाएगा।[2]

लोकोक्तियों की व्युत्पत्ति के तीन आधार माने जाते हैं– (1) दैनिक जीवन के अनुभव (2) प्रेरक वचन (3) अतीत की घटनाएँ। मानव को अपने दैनिक जीवन में अनेक कटु–मधुर अनुभव होते हैं। कई बार कोई ऐसी घटना घट जाती है, जो उसके व्यक्तिगत जीवन के लिए तो सीख बनती ही है, अपितु अन्य के लिए भी शिक्षाप्रद होती है।

उपर्युक्त विभिन्न विद्वानों के मतों का विश्लेषण करने के पश्चात् निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि लोकोक्ति व कहावत की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है कि लोकोक्ति एवं कहावत की व्युत्पत्ति का स्वरूप निश्चित रूप से यही है। क्योंकि भाषा पहले बनती है और व्याकरण बाद में। अतः व्याकरण के नियमों से प्रत्येक शब्द के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय नहीं किया जा सकता परन्तु इतना अवश्य है कि व्युत्पत्ति का आश्रय लेकर निकट सम्भावनाओं तक तो पहुँचा जा सकता है।

लोकोक्ति स्वरूप एवं परिभाषा–

लोकोक्ति का शाब्दिक अर्थ है लोक में प्रचलित उक्ति। यह एक ऐसा वाक्य होता है जिसे किसी कथन की पुष्टि के प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत किया जाता है। ये वाक्य लोक में बहुत ही लोकप्रिय होते हैं। प्रभविष्णुता एवं चुटीलापन, पूर्णवाक्यता, संक्षिप्तता, सारगर्भिता, लोकप्रियता आदि इसकी प्रमुख विशेषताएँ कही जा सकती है।

विभिन्न विद्वानों ने अपने–अपने मतानुसार लोकोक्ति की परिभाषाएँ इस प्रकार की है :–

डॉ० भोलानाथ तिवारी के मतानुसार, "विभिन्न प्रकार के अनुभवों, पौराणिक तथा ऐतिहासिक व्यक्तियों एवं कथाओं, प्राकृतिक नियमों और लोक विश्वासों आदि पर आधारित चुटीली, सारगर्भित, सजीव, संक्षिप्त लोक प्रचलित ऐसी उक्तियों को लोकोक्ति कहते हैं, जिनका प्रयोग बात की पुष्टि या विरोध, सीख तथा भविष्य–कथन आदि के लिए किया जाता है।'

"लोक जीवन से संबद्ध उक्तियाँ लोकोक्तियाँ हैं। लोकमानस द्वारा लोक भाषा में विचरित ये लोकोक्तियाँ अमोघ मंत्र है, जिसमें जीवन की सारी अनुभूतियों का निचोड़ बंद कर रख दिया जाता है।'

डॉ० सत्येन्द्र के अनुसार, "प्रत्येक प्रकार की उक्ति को लोकोक्ति कहा जा सकता है।"

डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय के शब्दों में, "लोकोक्तियाँ अनुभव सिद्ध ज्ञान की निधि हैं। मानव ने युग–युग से जिन तथ्यों का साक्षात्कार किया है उनका प्रकाशन उनके माध्यम से होता है। ये चिरकालीन अनुभूत ज्ञान के सूत्र है।"[1]

उपर्युक्त परिभाषा बहुत ही युक्तिसंगत है। मनुष्य अपने दैनंदिन जीवन में जब ऐसे सत्य की अनुभूति प्राप्त करता है, जिसे मानवहित के लिए सुरक्षित रखना एवं अगली पीढ़ी को हस्तान्तरित करना उपयागी लगता है, तो ऐसी ज्ञान निधि को अभिव्यक्त करने के माध्यम को लोकोक्ति की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है।

"लोकोक्ति लोक की उक्ति है। व्यष्टि की सम्पत्ति जब समष्टि की सम्पत्ति बन जाती है, तब लोकोक्ति का रूप धारण करती है। लोकप्रियता इसका प्राण तत्व है। इसके अभाव में लोकोक्ति का स्वरूप नष्ट हो जाता है। संक्षिप्तता सारगर्भिता आदि से युक्त होने पर लोक प्रसिद्धि के अभाव में लोकोक्ति प्राज्ञोक्ति मात्र बनकर रह जाती है। लोकानुभव पर आधारित लोकप्रिय लोकोक्ति की सहायता एवं प्रभावात्मकता असंदिग्ध है। संक्षेपतः कहा जा सकता है कि लोकप्रियता लोकोक्ति मात्र की अपरिहार्य विशेषता है।"[2]

अतः लोकोक्तियों के समग्र अध्ययन से ज्ञात होता है कि लोकोक्तियाँ लोक मानस की कुशाग्र बुद्धि का प्रतीक है जो लोक जीवन की व्याख्या समग्र रूप से करने की क्षमता रखती है। मानव जीवन के युग–युग की अनुभूतियों का परिणाम और निरीक्षण शक्ति इन लोकोक्तियों में ही अन्तर्निहित रहती है। समास शैली लोकोक्तियों की प्रमुख विशेषता है। इनमें रचियिता ने गागर में सागर भरने का प्रयास किया होता है। आकार में छोटी होने पर भी इनमें विशालभाव राशि सिमटी रहती है। निरीक्षण और अनुभूति की अभिव्यंजना प्रभावशीलता और लोक रंजकता तथा सरल शैली ही लोकोक्ति का प्राण तत्व है। लोकोक्तियाँ इतनी सरल भाषा में निबद्ध होती है कि सुनने

वाला सुनते ही हृदयगम कर लेता है। लोकोक्तियाँ पद्यात्मक तथा गद्यात्मक दोनों रूपों में होती हैं। पद्यात्मक रूप को याद करने में सुविधा होती है। उनका प्रभाव भी जन–साधारण पर संभवतः अधिक पड़ता है।

लोकोक्ति का महत्त्व–

मानव जीवन की कोई भी ऐसी गतिविधि नहीं जिसे लोकोक्तियों या कहावतों के माध्यम से उजागर न किया जा सके। इसके माध्यम से मानव जन–जीवन के सुख–दुःख, हर्ष–विषाद, रूचि अरूचि, ईर्ष्या–लोभ आदि सभी को सूत्र रूप में व्याख्या होती है। लोकोक्तियों के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए डॉ० भोलानाथ तिवारी लिखते हैं, "लोकोक्तियाँ जनमानस की हार होती हैं तथा वे हर वक्त हर समय जन–जन के साथ गुरु, शुभचिंतक, मित्र तथा वैद्य आदि बनकर उसका समाधान करने के लिए तैयार मिलेगी, शर्त यह है कि लोकोक्तियाँ आपको याद हों। इस तरह प्रत्येक भाषा में पाया जाने वाला लोकोक्तियों का भंडार, उसके बोलने वालों के साथ–साथ चलने वाला ज्ञान का अक्षय भंडार है, जो आड़े–से–आड़े वक्त में साथ देता है, परेशानियों से बचाता है और यह बताता है कि हम कैसे सफल बने, कसे सुखी और स्वस्थ रहें, कब क्या करे, क्या न करे, कब क्या न कहे। लोकोक्तियों में सचमुच ही वह शक्ति है जिससे अपने जानने और मानने वालों को व अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चारों की प्राप्ति करा सकती हैं। उसमें थोथा पुस्तकीय ज्ञान नहीं होता। 'जीवन के ज्ञान का असली सोना जन–जन के अनुभव की आँच में तपकर जब कुंदन बन जाता है तो उसे लोकोक्ति कहने लगते हैं।"

डॉ० सुरेश गौतम के अनुसार– "लोकोक्तियाँ– कहावतें मूल रूप से जीवन का अनुभव शास्त्र और अर्क–सार है, सामूहिक ज्ञान–विज्ञान का आचरण शास्त्र। अनुभवों

के संचित कोश का ध्रुव नक्षत्र, बुद्धि वैभव का चातुर्य कौशल सीप में समुद्र, सूर्य नाभि पर बिरकते अग्नि कलश, मौंगलिग तुलसी पत्र, जीवन का हल्दी–धान, स्वास्तिक चक्र, संघर्ष यात्रा में वृक्ष की छाँह, जीवन के आलोक पर्व, ऐसे लोक मंत्र जो बजे तो वंशी से और गूँजे तो शंख से। जीवन की लघुकथा का महाकाव्य। हास्य–व्यंग्य का एक ऐसा रसायन जो 'दूब' की तरह हरा भी है और 'दधि' की तरह खट्टा और मीठा भी, जिसकी 'अच्छत' धुरी पर सम्पूर्ण पृथ्वी परिक्रमा करती है।''[1]

उपर्युक्त विद्वानों द्वारा प्रतिपादित लोकोक्ति के महत्त्व का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि लोकोक्तियों– कहावतों के महत्त्व से सम्बन्धित किसी प्रकार की शंका नहीं होनी चाहिए। लोकोक्तियों एवं कहावतों का जितना महत्त्व किसी देश, काल, पात्र, अर्थात् जाति, जन–समुदाय, प्रदेश अथवा सम्पूर्ण राष्ट्र की सभ्यता, संस्कृति तथा साहित्य के अध्ययन की दृष्टि से है, उतना ही उसका भाषा के अध्ययन की दृष्टि से भी है। अतः इसके महत्त्व को किसी भी रूप में कम करके नहीं आंका जा सकता है।

लोकोक्तियों का वर्गीकरण–

लोकोक्तियों के वर्गीकरण का क्या आधार माना जाए यह एक दुष्कर कार्य है। लोकोक्ति में अनेक विषयों का सार निहित होता है। ऐसी स्थिति में उसे किस विषय के अन्तर्गत रखा जाए यह निर्णय करना कठिन है। विभिन्न विद्वानों ने अपने–अपने ढंग से वर्गीकरण करने का प्रयास किया है। जो इस प्रकार है :–

डॉ० भोलानाथ तिवारी ने लोकोक्तियों का वर्गीकरण प्रमुख रूप से 12 रूपों में किया है– (1) कथात्मकता के आधार पर, (2) कालातीत के आधार पर, (3) क्षेत्र एवं देश के आधार पर, (4) विषय के आधार पर, (5) रचयिता के ज्ञात–अज्ञात होने के

आधार पर, (6) निर्माण काल के आधार पर, (7) संवादात्मकता के आधार पर, (8) क्रिया के आधार पर, (9) वाक्य रचना के आधार पर, (10) तुक के आधार पर, (11) स्त्रोत के आधार पर (12) व्यक्ति और जाति के आधार पर।

उपर्युक्त वर्गीकरण के अतिरिक्त भी बहुत सी लोकोक्तियाँ है जिन्हें इस वर्गीकरण में सम्मिलित नहीं किया जा सकता।

डॉ० कृष्ण देव उपाध्याय ने लोकोक्तियों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है :–[1] (1) स्थान सम्बन्धी, (2) जाति सम्बन्धी, (3) प्रकृति सम्बन्धी, (4) पशु–पक्षी सम्बन्धी, (5) प्रकीर्ण।

यह वर्गीकरण पर्याप्त संक्षिप्त एवं वैज्ञानिक है। बहुत से लेखकों ने इसको थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ अपनाया भी है।

डॉ० ताराकान्त मिश्र ने अध्ययन की सुविधा अनुसार लोकोक्तियों–कहावतों को मोटे तौर पर आठ भागों में विभाजित किया है :–[2] (1) जातिपरक, (2) स्थानपरक, (3) उपदेशात्मक, (4) आलोचनात्मक, (5) प्रशंसात्मक, (6) प्रमाणात्मक, (7) ज्ञानवर्धक, (8) अन्य।

मोहनलाल बाबुलकर ने गढ़वाली लोकसाहित्य में कहावतों के छः भेद किए हैं–[3] (1) स्त्रियों के लिए प्रयुक्त, (2) पुरुषों के लिए प्रयुक्त, (3) सामान्य रूप में प्रयुक्त, (4) नीति विषयक, (5) आलोचनात्मक, (6) जातिविषयक।

प्रस्तुत वर्गीकरण भी अधिक उपयुक्त नहीं जान पड़ता। स्त्रियों एवं पुरुषों को एक ही वर्ग में रखा जा सकता है। प्रायः सभी कहावतें आलोचनात्मक तो होती ही हैं, फिर पृथक् वर्गीकरण करना उचित नहीं।

डॉ० कन्हैयालाल सहल द्वारा किया गया वर्गीकरण भी महत्त्वपूर्ण माना गया है। यह रूप एवं वर्ण्यविषय को सामने रखते हुए किया गया है। सहल जी ने राजस्थानी लोकोक्तियों का अध्ययन करते हुए निम्नलिखित ढंग से अपना वर्गीकरण प्रस्तुत किया है :—[1] (1) ऐतिहासिक कहावतें, (2) स्थान सम्बन्धी कहावतें, (3) राजस्थानी कहावतों में समाज का चित्र, (क) जाति सम्बन्धी कहावतें, (ख) नारी सम्बन्धी कहावतें, (4) शिला ज्ञान और साहित्य, (क) शिक्षा सम्बन्धी (ख) मनोविज्ञान सम्बन्धी (ग) राजस्थानी साहित्य में कहावतें, (5) धर्म और दर्शन, (क) धर्म और ईश्वर विषयक कहावतें, (ख) शकुन सम्बन्धी कहावतें (ग) लोक विश्वास सम्बन्धी कहावतें (घ) जीवन—दर्शन सम्बन्धी कहावतें, (6) कृषि सम्बन्धी कहावतें, (7) वर्षा सम्बन्धी कहावतें, (8) प्रकीर्ण कहावतें।

उपर्युक्त डॉ० कन्हैयालाल सहल का वर्गीकरण यद्यपि पर्याप्त वैज्ञानिक है, तथापि वर्गीकरण को संक्षिप्त बनाकर अनावश्यक विस्तार से बचा जा सकता था। इसी प्रकार कृषि और वर्षा सम्बन्धी कहावतों को भी एक ही वर्ग में रखा जा सकता है। फिर भी बहुत से लोगों ने स्थानीयता को ध्यान में रखकर थोड़ा बहुत परिवर्तन करके इसी को अपने वर्गीकरण का आधार बनाया है।

इस प्रकार विभिन्न विद्वानों ने अपने—अपने मतानुसार स्थानीयता के आधार पर लोकोक्तियों— कहावतों का वर्गीकरण किया है जिनमें से किसी को भी पूर्ण वैज्ञानिक या तर्क संगत नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि समय स्थिति एवं स्थान के आधार पर व्यापकता के कारण इसके अपने अनेक रूप हो सकते हैं। जिन्हें किसी निश्चित वर्ग के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता है। सत्य तो यह है कि लोकोक्तियों— कहावतों का वर्गीकरण करना नितान्त कठिन कार्य है, क्योंकि प्रत्येक लोकोक्ति—कहावत में कई विषय संपृक्त रहते हैं। वर्गीकरण के समय यह सावधानी रखने की आवश्यकता है कि लोकोक्ति का झुकाव किस वर्ण्य विषय की ओर अधिक है। इसी बात को मध्यनज़र रखते हुए पंगवाली लोकोक्तियों— कहावतों का वर्गीकरण किया जा रहा है।

सामाजिक व्यवहार सम्बन्धी लोकोक्तियाँ

इस प्रकार की लोकोक्तियों— कहावतों में सामाजिक जन—जीवन का प्रतिबिम्ब समग्र के साथ प्रस्तुत किया जाता है। किसी भी क्षेत्र विशेष की सामाजिक जानकारी प्राप्त करने के लिए उस क्षेत्र विशेष में प्रचालित लोकोक्तियाँ पर्याप्त सहायक हो सकती है। समाज की प्रथाओं, रीति रिवाजों, खान—पान एवं आपसी ज्ञान व्यवहारों आदि की यथार्थ झलक लोकोक्तियों द्वारा प्राप्त की जा सकती है। सामाजिक व्यवहार सम्बन्धी एक लोकोक्ति इस प्रकार है जैसे :—

1. 'डैली गैभुर दिण तिहार भू नागू ता, औठ बैहर भू ठटिए।'

भाव यह है कि गरीब का बच्चा वैसे तो बन—ठन कर रहेगा परन्तु जब भी कोई मेला या त्यौहार आता है तो उसके पास पहनने के लिए कपड़े भी नहीं होते हैं। लोक व्यवहार के अनुसार व्यक्ति को समय एवं स्थिति के अनुसार अपना क्रिया व्यवहार करना चाहिए नहीं तो वह व्यक्ति समाज में हँसी का पात्र बनता है।

बड़े—बूढ़ों का कहा प्रायः बुरा लगता है परन्तु उसमें सत्य छुपा होता है। जैसे :

2. 'सियाणे विचार ता अम्बले स्वाद बाद बच याद एन्ता।'

अर्थात् बूढ़े—बुर्जुगों के कथन की सच्चाई का पता उसके बच्चों को आंवले के स्वाद की भांति बाद में पता चलता है। लोक व्यवहार से सम्बन्धित अन्य लोकोक्तियाँ इस प्रकार से हैं—

3. 'खरु कियोरु न भून्तुथ ता बूरु किस भून्तुथ।'

अर्थात् 'जब भला किया ही न होता तो फिर बुरा कैसे हो सकता था'। यह लोकोक्ति उन लोगों के लिए कही जाती है जब कोई व्यक्ति किसी का उपकार न मानते हुए उपकारी पुरुष का बुरा करता है।

4. 'डाण–डाण न सुखान्ता भियाण–भियाण न सुखान्ता।'

अर्थात् :– डाली–डाली का सुख सहन नहीं करती है और रिश्तेदार भाई, भाई को ही नहीं सुख से जीने देते है। लड़ाई झगड़ा करते रहते हैं।

5. 'बाऊ न डारू कायेए ब्याह है तो कुआ न डारू बाऊए मरूण है।'

अर्थात् :– पिता को लड़के के विवाह से तथा लड़के को पिता के मरने से कभी भी नहीं डरना चाहिए। अपितु दोनों को साहस पूर्वक एक दूसरे के फर्ज निभाने चाहिए। यहाँ पर लड़के को पिता के मरने पर पिता के क्रियाक्रम पर आने वाले खर्च से नहीं डरने की बात कही गई है। जैसा कि प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में कहा गया है कि पंगवाल लोक संस्कृति में मृत्यु संस्कार सबसे अधिक दुरूह है।

6. 'खई कई अखऊ न करूं, काई कर अकाऊँ न करूँ।'

अर्थात् :– खाकर मना नहीं करना चाहिए कि नहीं खाया, देखकर मना नहीं करना चाहिए कि मैंने नहीं था। भाव यह है कि हमें अपने लोक व्यवहार में हमेशा शुद्धि रखनी चाहिए झूठ नहीं बोलना चाहिए।

7. 'इठ धीयू औठ धीयू मीठा भोजन कोठ खाऊ।'

अर्थात् :– यहाँ जाऊँ वहाँ जाऊँ मीठा भोजन कहा खाऊँ।

भाव यह है कि हमें संतोषपूर्ण अपने जीवन का निर्वाहन करना चाहिए इधर–उधर कहीं भी लालच में नहीं भटकना चाहिए।

8. 'छीड़ी के आग ता घाण जौली झगड़ा।'

अर्थात् :– झाड़ियों की आग तथा पति–पत्नी का झगड़ा, एक दम जलती है और एक दम बुझ जाती है।

कहा जाता है कि कभी भी पति–पत्नी के आपसी झगड़े में नहीं पड़ना चाहिए क्योंकि उनका झगड़ा झाड़ियों में लगने वाली आग की तरह एकदम जल कर बुझ

जाती है अर्थात् शांत हो जाता है। बाद में बीच में पड़ने वाला व्यक्ति बुरा बन जाता है। इसलिए कहा जाता है पति–पत्नी के बीच हो रहे झगड़े के बीच में कभी भी नहीं पड़ना चाहिए।

9. 'दाहा न भीईल ता रीईल काई दाहा थोड़ी लेएईल।'

अर्थात् :– प्रेम न हो तो रोकर प्रेम नहीं पाया जा सकता। भाव यह है तो दूसरा व्यक्ति जो उसका सगा सम्बन्धी है यह कहता है कि अगर प्रेम नहीं हो तो रोकर प्रेम किसी से पाया नहीं जा सकता। प्रस्तुत लोकोक्ति में समाज के कटु सत्य को उजागर किया गया है।

10. 'ऋण मेगिन्तु, गुण थोड़े मेगिन्ते।'

अर्थात् :– ऋण तो मांगा जा सकता है पर गुण नहीं माँगे जा सकते है। भावार्थ यह है कि हम किसी व्यक्ति से सिर्फ उसको दिया ऋण मांग सकते हैं पर उस पर किया उपकार अर्थात् गुण नहीं मांगा जा सकता।

11. 'हास किया बगस भून्ता।'

अर्थात् :– हँसी से ही लड़ाई झगड़ा होता है।

भाव यह है कि अगर आप महफिल में हँसी मजाक करते हो तो उसी से कभी–कभी लड़ाई झगड़ा भी शुरू हो जाता है।

12. 'चखर बीते बारह भून्ते तैस बाहरो टियारे भून्ते।'

अर्थात् :– चकोर को कहते हैं बारह बच्चे होते हैं उसे बारह बच्चे सभी एक समान प्यारे होते हैं। किसी से कोई भेदभाव नहीं जाता है।

उपर्युक्त कथन तब कहा जाता जब किसी दम्पति के कई बच्चे होते हैं और कुछ बच्चे उनसे दूसरों से अधिक प्रेम करने की बात कहते हैं। अर्थात् माता–पिता का सभी बच्चों के प्रति एक समान प्रेम रहता है इसमें कोई सन्देह नहीं होना चाहिए।

13. 'न्याय न ता कुन्याय जिड़िता।'

अर्थात् :– न्याय से नहीं अन्याय से जीत हासिल करता है। भाव यह है कि जब कोई व्यक्ति किसी अवसर पर अपनी धूर्तता अपना कर अन्याय का रास्ता अपनाता है तो उपर्युक्त लोकोक्ति कही जाती है।

14. 'भगवान् तुसी फियुङू ई फूला ता दूंबी ई बसा।'

अर्थात् :– हे भगवान आपको फूल की तरह खिलाए तथा दूब की तरह बसाए। पंगवाल लोग जब भी किसी व्यक्ति से प्रसन्न होते हैं तो जाते–जाते उपर्युक्त लोकोक्ति दुआ के रूप में कहते हैं कि भगवान करें तुम फूल की तरह सदा मुस्कराते हुए जिये और तुम्हारा वंश 'दूब' घास की तरह चारों और फैल जाए तथा सदा हरा भरा रहे।

'जेठी दुई भाण्ड भुन्ते से बी अपू ऐप बच बजते।'

अर्थात् :– जहाँ पर दो बर्तन होते है वह भी आपस में टकराते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि अपनों के साथ कभी कभार मन मुटाव लड़ाई–झगड़े चलते रहते हैं क्योंकि दो बर्तन भी तो आपस में साथ रहते हुए टकराते रहते हैं फिर इन्सानों की तो बात ही क्या कही जा सकती है। इस प्रकार पाँगी जनजातीय क्षेत्र में सामाजिक जन–जीवन एवं व्यवहार को प्रस्तुत करने वाली अनेक लोकोक्तियाँ–कहावतों का प्रचलन है।

लाक मानस क विावध पहलुआ स सबद्ध हान क कारण लाकाक्तया–कहावता को विषयानुक्रम से वर्गीकृत करना कठिन है। यहाँ पर उन लोकोक्तियों की चर्चा की

जाएगी जो व्यापक लोकानुभवों पर आधारित है, परन्तु पहले दिए गए वर्गों में उनका समावेश नहीं किया जा सकता है इनका सम्बन्ध मानव जीवन के विविध पहलुओं से रहा है। यहीं पर विविध विषयों से सम्बन्धित लोकोक्तियों को प्रस्तुत किया जाएगा। यथा :—

1. 'देहेणी बाणे खे जू ता बगै देहेणी तेहेनी भौसी शोख।'

अर्थ :— दाढ़ी बालों को जू लगी है बिना दाढ़ी बालों शौक चढ़ा हुआ है।

उपर्युक्त लोकोक्ति पंगवाल लोगों द्वारा तब कही जाती है जब कोई नवयुवक या युवती शीघ्र विवाह करने की उत्सुकता प्रकट करता है। अर्थात् जिन लोगों ने तो विवाह किया है वह तो सारे दुःखी है पर जिन्होंने नहीं किया है उन्हें शौक चढ़ा हुआ है।

2. 'जैसे बोते पूरा तैस आधा भी न।'

अर्थ :— जिसकी वस्तु पर उसे आधी भी नहीं।

यह कथन उस समय पंगवाल लोगों द्वारा कहा जाता है जब जिसकी वस्तु कोई और हड़प लेता है और उसे आधी भी नसीब नहीं होती है।

3. 'हले ता टटा नचताई नाऊँ नचा ता ताऊँ अंग बहा टोड़ी।'

अर्थ :— अर्द्ध पागल इन्सान पहले तो नाचता ही नहीं है परन्तु जब नाचता है तो अपनी पूरी जान लगा देता है।

उपर्युक्त कथन पंगवाल लोगों द्वारा उन व्यक्तियों को कहा जाता है जो पहले तो काम से जी चुराते हैं परन्तु जब काम करने लगते हैं तो अपनी सुधबुध भी खो देते हैं अर्थात् पूरी तन्मयता से कार्य करते है।

4. 'सोहकारे जवाई रूपेय पुठ खन्ता।'

अर्थ :— साहूकार का जवाई पैसे से खाता है।

भाव यह है कि बड़े लोगों की बात ही निराली होती है वह अपनी मनमर्जी के मालिक होते हैं। उन्हें किसी चीज का मलाल नहीं होता है वह पैसे से कुछ भी खरीद सकता है।

5. 'रोऊ बोते भंगड़े ता रैणी बीते हगणे।'

अर्थ :— भिखारी को माँगने की पड़ी है और रानी को विष्ठा करने की।

उपर्युक्त कथन का भाव यह है कि हर व्यक्ति की अपनी–अपनी समस्या होती है। यह पंगवाल लोगों द्वारा उस समय कही जाती है जब कोई व्यक्ति किसी से कुछ मांगता है और वह व्यक्ति किसी और ही समस्या में फंसा होता है और उसकी समस्या को हल करने में असमर्थ होता है।

6. 'मुग बोते बुटे पुटा झड़ा ता पैट कई गुगुदे हेरता।'

अर्थ :— गुग पेड़ से गिरकर फिर पेड़ की ओर देखता है।

गुग एक ऐसा पेड़ होता है जिसके फल का प्रयोग कहीं–कहीं पर आज भी पंगवाल लोग सर्फ की तरह करते हैं। इसके फल को पीस कर पानी में भिगोने से यह बहुत अधिक झाग बनता है जिसमें ऊनी कपड़े आदि आसानी से साफ हो जाते हैं। प्राचीन समय में पंगवाल लोग इस पेड़ के फल एवं एक जड़ी बुटी 'खिली' को मिलाकर ही कपड़े धोते थे। इस फल की विशेषता यह होती है कि इसके ऊपर आँख की तरह एक निशान होता है। जब यह फल पेड़ से नीचे गिरता है तो ऐसे लगता है कि जैसे नीचे गिरने के बाद यह फल फिर पेड़ की तरफ देख रहा हो। इसी संदर्भ को मध्यनज़र रखते हुए पंगवाल लोग उपर्युक्त कथन उस समय उन लोगों को कहते है जो किसी बड़े आदमी द्वारा ठुकराए जाते हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि पंगवाल जनजातीय लोगों द्वारा अनेक अवस्थाओं में विभिन्न प्रकार के विषयों से सम्बन्धित अनेक प्रकार की लोकोक्तियों–कहावतों को कहने का प्रचलन मिलता है। जो कि उनकी मार्गदर्शन के रूप में सदैव काम आती रहती है। जिनका इन लोगों के जीवन में एवं संस्कृति में विशेष महत्त्व है।

यथार्थ झलक भी देखने को मिलती है। वार्तालाप में सामान्य ग्राम्य जन भी मुहावरों के प्रयोग द्वारा अपनी वार्ता प्रभावशाली बनाते है।

"मुहावरा अरबी शब्द है। इसका अर्थ है, 'परस्पर बात–चीत और सवाल जबाव करना' इसे अंग्रेजी में 'इडियम' कहते हैं। संस्कृत में इस शब्द के यथार्थ अर्थ का बोधक कोई शब्द नहीं है। कतिपय विद्वानों ने 'प्रयुक्तता', 'वाग्रीति' भाषा सम्प्रदाय और 'रमणीय प्रयोग' आदि शब्दों को मुहावरों के स्थान पर प्रयुक्त किया है।"[1]

मुहावरे किसी भी भाषा की संजीवनी है। ये उस भाषा के प्राण हैं जिसके द्वारा भाषा में सुघराई और चुस्ती आती है। मुहावरों के प्रयोग से वाक्यों में रोचकता आ जाती है और उनका प्रभाव पाठकों के ह्रदय के ऊपर सीधे होता है। रोचक भाषा भावों की अभिव्यंजना में कितनी समर्थ होती है यह कहने की आवश्यकता नहीं। यही कारण है कि जो लेखक मुहावरों का अधिक प्रयोग करते हैं उनकी भाषा तर्कसंगत होती है।

मुहावरा वाक्य एक ऐसा अंश है जो अपने आप में स्वतन्त्र है तथा उचित समय और स्थान पर प्रयुक्त होने पर यह भाषा में चुस्ती व रोचकता पैदा करता है। अतः यह कह देना कि अधिक भावों को थोड़े शब्दों में व्यक्त करके अभिव्यक्ति की शैली में माधुर्य, सौन्दर्य और शक्ति लाने में मुहावरों की अहम् भूमिका है अतिश्योक्तिपूर्ण नहीं होगा।

'हावर', जिसका अर्थ है 'बातचीत करना', 'प्रश्नोत्तर करना' या उत्तर का उत्तर देना'। 'हावर' का क्रियार्थक संज्ञा रूप अरबी भाषा में है 'मुहावरत' जिसका फारसी रूप मिलता है 'मुहावरः'। मुहावरा इसी का हिन्दी रूप है। उर्दू में लिखते हैं 'मुहावरः', किन्तु हिन्दी की तरह ही कहते हैं 'मुहावरा'।"[1]

डॉ० शंकर लाल यादव लिखते हैं, "मुहावरा (रूढ़ि) उस सुगठित पद समूह का नाम है जो अपना साधारण अर्थ (वाच्यार्थ) नहीं, अपितु एक विशेष अर्थ (रूढ़ार्थ या लक्ष्यार्थ) प्रकट करता है।"[2]

हरिवंश राय शर्मा ने राजपाल मुहावरा कोश के आमुख में मुहावरा की परिभाषा देते हुए कहा है कि, "मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि जिस सुगठित शब्द समूह से लक्षणाजन्य कभी–कभी व्यंजनाजन्य कुछ विशिष्ट अर्थ निकलता है उसे 'मुहावरा' कहते हैं।"[3]

प्रस्तुत डॉ० शंकरलाल यादव एवं हरिवंश राय शर्मा की परिभाषाएँ एक सी है। दोनों विद्वानों लक्ष्यार्थ की महत्ता मुहावरा के लिए अनिवार्य मानी है।

उपर्युक्त परिभाषाओं का विश्लेषण करने के पश्चात् निष्कर्षतः कहाँ जा सकता है कि मुहावरा किसी बोली या भाषा में प्रयुक्त होने वाला वह अपूर्ण खण्ड है जो अपनी उपस्थिति के समस्त वाक्य को सबल, सतेज, रोचक और चुस्त बना देता है। संसार में मनुष्य ने अपने लोक व्यवहार में जिन–जिन वस्तुओं और विचारों को बड़े कौतूहल से देखा और समझा और बार–बार उसका अनुभव किया। उन्हीं को शब्दों में बांध दिया और यही मुहावरे कहलाते हैं। यह मुहावरें मानव जीवन के दिन–प्रतिदिन के व्यवहारिक घटनाओं को, अनुभवों को शब्दों में बांध लेते हैं। मुहावरे से हम लोग जीवन की

सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक और पौराणिक मान्यताओं का अध्ययन भी कर सकते हैं। लोक जीवन का कोई भी ऐसा पहलू नहीं, जिस पर मुहावरें का प्रभाव न पड़ता हो। वस्तुतः मुहावरा भाषण अथवा भाषा में सौन्दर्य और शक्ति भरने का सफलतम साधन है।

7.2.2. कहावतों एवं मुहावरों में अन्तर–

कहावत एवं मुहावरा दोनों वाक् चातुर्य के प्रभावशाली माध्यम है। भाषा को सजाने एवं संवारने में दोनों की समान भूमिका है। इनके अभाव में भाषा निस्तेज एवं फीकी सी प्रतीत होती है। इनको भाषा में प्रयोग करने से हम अपनी अभिव्यक्ति को संक्षिप्त रूप में प्रकट कर सकते हैं तथा अनावश्यक विस्तार के दोष से भी निवृत्ति मिल जाती है। यद्यपि इन दोनों में कोई विशेष अन्तर प्रतीत नहीं होता है, तथापि सूक्ष्म रूप से अध्ययन करने पर दोनों में अन्तर स्पष्ट परिलक्षित होता है। यहाँ कतिपय विद्वद्जनों द्वारा किए गए अन्तर को उद्धृत करना उपयोगी रहेगा।

डॉ0 कृष्णदेव उपाध्याय के अनुसार, "मुहावरे गद्यात्मक होते हैं, परन्तु लोकोक्तियाँ गद्य और पद्य दोनों में होती है, दोनों का आकार लघु होता है, परन्तु मुहावरा लघुत्तर होता है।"[1]

डॉ0 सुरेश गौतम ने कहावत और मुहावरे में अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है, "कहावत पूर्ण वाक्य होती है लेकिन मुहावरा वाक्यांश। कहावत अपनी निजता में पूरी तरह स्वायत्त और स्वतन्त्र है लेकिन मुहावरा वाक्य रथ पर चढ़कर ही अपनी निजता और स्वतन्त्रता कायम रख सकता है। अतः वह प्रयोगाधीन है, निजता होते हुए भी उसका कोई स्वतन्त्र अर्थ नहीं है। कहावत अपने आप में दृष्टान्त है जबकि मुहावरा दृष्टान्त का शक्ति प्रवाह हो सकता है, अपने आपमें दृष्टान्त नहीं। कहावत गद्य और पद्य दोनों में अनुभवों का संचित सौन्दर्यशास्त्र है, जबकि मुहावरा मात्र गद्यात्मक होता

है। कहावत की अदा संक्षिप्तिति है, लेकिन मुहावरा आकारी संक्षिप्तिति की अणु व्याख्या है।"[1]

उपर्युक्त अन्तर में कहावत एवं मुहावरे के मध्य आने वाले सूक्ष्म से सूक्ष्म अन्तर को स्पष्ट किया गया। अतः कहा जा सकता है कि कहावत एवं मुहावरे में विशेष अन्तर है परन्तु व्यापक अर्थ सन्दर्भों में ये दोनों मनुष्य के साथ चलते–फिरते जीवन के लोक मंत्र हैं।

मुहावरों का वर्गीकरण –

मुहावरों का सम्बन्ध सम्पूर्ण जगत् और जीवन से होता है। वर्षों के साहचर्य के कारण मानव जीवन और विस्तृत जगत् मुहावरामय हो गये हैं। मानव पशु–पक्षी, प्रकृति, उपयोगी पदार्थ, कार्य आदि सभी इसकी सीमा में आ जाते हैं। अतः इनका वर्गीकरण करना बड़ा दुष्कर कार्य है। मुहावरों का वर्गीकरण कई आधारों पर किया जा सकता है। मोटे तौर पर मुहावरों को वर्ण्य विषय के आधार पर चार भागों में विभक्त किया जा सकता है :–

1. सामाजिक मुहावरे।
2. नीति उपदेश प्रधान मुहावरे।
3. लोक व्यवहार सम्बन्धी मुहावरे।
4. अन्य मुहावरे।

सामाजिक मुहावरे–

इस वर्ग के अन्तर्गत आने वाले मुहावरों में समाज, परिवार एवं वर्ग संगठन की विभिन्न इकाईयों के लोगों के गुण दोषों आदि को माध्यम बनाया जाता है। पंगवाली

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि

लोक साहित्य में मुहावरों का अपना एक विशेष स्थान है। इन लोक मुहावरों का लोक जीवन में ही नहीं अपितु लोक संस्कृति में भी महत्त्व है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि मुहावरों का सम्बन्ध मानव जीवन से हुआ करता है अतः इनके माध्यम से हम मानव की संस्कृति, परम्परा प्रथा, रीति–रिवाज तथा आस्था एवं विश्वासों से परिचित हो जाते हैं। स्थान विशेष में प्रयुक्त होने के कारण मुहावरों में स्थानीय रंग भी पर्याप्त मात्रा में मिलता है।

परम्परा एवं रीति

नमस्ते या **नमस्कार** या **नमस्कारम्** भारतीय उपमहाद्वीप में अभिनन्दन या अभिवादन करने के सामान्य तरीके हैं। यद्यपि नमस्कार को नमस्ते की तुलना में ज्यादा औपचारिक माना जाता है, दोनों ही गहरे सम्मान के सूचक शब्द हैं। आम तौर पर इसे भारत और नेपाल में हिन्दू, जैन और बौद्ध लोग प्रयोग करते हैं, कई लोग इसे भारतीय उपमहाद्वीप के बाहर भी प्रयोग करते हैं। भारतीय और नेपाली संस्कृति में ये शब्द लिखित या मौखिक बोलचाल की शुरुआत में प्रयोग किया जाता है। हालाँकि विदा होते समय भी हाथ जोड़े हुए यही मुद्रा बिना कुछ कहे बनायी जाती है। योग में, योग गुरु और योग शिष्यों द्वारा बोले जाने वाली बात के आधार पर नमस्ते का मतलब "मेरे भीतर की रोशनी तुम्हारे अन्दर की रोशनी का सत्कार करती है " होता है
शाब्दिक अर्थ में, इसका मतलब है "मैं आपको प्रणाम करता हूँ" यह शब्द संस्कृत शब्द (नमस्): प्रणाम, श्रद्धा आज्ञापालन, वंदन और आदर और (ते): "आपको" से लिया गया है।
किसी और व्यक्ति से कहे जाते समय, साधारण रूप से इसके साथ एक ऐसी मुद्रा बनाई जाती है जिसमें सीने या वक्ष के सामने दोनों हाथों की हथेलियाँ एक दूसरे को छूती हुई और उंगलियाँ ऊपर की ओर होती हैं। बिना कुछ कहे भी यही मुद्रा बनकर यही बात कही जा सकती है।

भारत के 5 प्रमुख त्यौहार

भारत में अलग-अलग जातियों और सम्प्रदायों के लोग रहते हैं जो कई तरह के त्यौहार मनाते हैं। इसी कारण भारत को त्यौहारों का देश भी कहा जाता है। भारत में इतनी विभिन्नता होते हुए भी काफी एकता है और लोग साथ मिलकर सभी त्यौहार बड़े ही धूम धाम से मनाते हैं।

1. मकर संक्रांति

मकर संक्रांति भारत में ही नहीं, बल्कि नेपाल में भी मनाया जाता है। यह हिंदुओं का एक बहुत ही महत्वपूर्ण त्यौहार है। हर साल यह त्यौहार जनवरी माह के 14 या 15वें दिन को मनाया जाता है। इस त्यौहार को संक्रांति या उत्तरायणी भी बोला जाता है। इस दिन सूरज धनु राशि को छोड़कर मकर में प्रवेश करता है।

2. बैसाखी

हर साल 13 या 14 अप्रैल को मनाया जाने वाला पर्व बैसाखी काफ़ी रंग बिरंगा त्यौहार है। यह एक राष्ट्रीय पर्व है और देश के कई जगहों पर इसे खेती का पर्व भी कहा जाता है। यह पर्व एक कृषि पर्व है और रबी की फसल पक जाने पर मनाया जाता है।

3. लोहड़ी

लोहड़ी मकर संक्रांति के ठीक एक दिन पहले मनाया जाता है और यह एक बहुत ही प्रसिद्ध कृषि पर्व है जो खासतौर पर पंजाब में मनाया जाता है। यह त्यौहार पौष माह के अंतिम दिन को सूरज डूबने के बाद मनाया जाता है। इस पर्व पर लोग आग के चारों ओर बैठते हैं और इस दौरान लावा, मूंगफली आदि खाकर काफी हर्ष से इस पर्व को मनाते हैं।

4. होली

होली एक रंगों का त्यौहार है और भारत के सभी हिस्सों में मनाया जाता है। इस पर्व के दिन लोग सारे गिले शिकवे भुला कर एक दूसरे को गले लगाते हैं और एक दूसरे के चेहरे पर रंग और गुलाल लगाते हैं। यह त्यौहार फाल्गुन माह की पूर्णिमा को मनाया जाता है।

5. दिवाली

दिवाली शरद ऋतू में मनाया जाता है और इसे रौशनी का पर्व भी कहा जाता है। दीपावली भारत का बहुत ही मुख्य पर्व है। इसी दिन प्रभु राम रावण को हरा कर 14 वर्षों के बाद अयोध्या वापस आये थे। दिवाली के दिन सभी लोग अपने घरों को दीपक और लाइट से सजाते हैं। दिवाली त्यौहार बुराई के खिलाफ अच्छाई की जीत को प्रतीत करता है।

भारत में कई अन्य त्यौहार भी मनाये जाते हैं, जिनसे लोग एक दूसरे के करीब आते हैं। त्योहारों के माध्यम से लोगों को अपनी रोज़मर्रा ज़िन्दगी से थोड़े पल अपने परिवार और मित्रों के साथ मानाने को भी मिलते है। ये त्यौहार हमारे देश के गौरव हैं और हमारी एकता को बनाये रखते हैं।

जीवन में त्योहारों का महत्व

मानव जीवन अनेक विविधताओं से भरा हुआ है । अपने जीवनकाल में उसे अनेक प्रकार के कर्तव्यों व दायित्वों का निर्वाह करना पड़ता है । इनमें वह प्राय: इतना अधिक व्यस्त हो जाता है कि अपनी व्यस्त जिंदगी से स्वयं के मनोरंजन आदि के लिए समय निकालना भी कठिन हो जाता है ।

इन परिस्थितियों में त्योहार उसके जीवन में सुखद परिवर्तन लाते हैं तथा उसमें हर्षोल्लास व नवीनता का संचार करते हैं । त्योहार अथवा पर्व सामाजिक मान्यताओं, परंपराओं व पूर्व संस्कारों पर आधारित होते हैं । जिस प्रकार प्रत्येक समुदाय, जाति व धर्म की मान्यताएँ होती हैं उसी प्रकार इन त्योहारों को मनाने की विधियों में भिन्नता होती है ।

सभी त्योहारों की अपनी परंपरा होती है जिससे संबंधित जन-समुदाय इनमें एक साथ भाग लेता है । सभी जन त्योहार के आगमन से प्रसन्नचित्त होते हैं व विधि-विधान से, पूर्ण हर्षोल्लास के साथ इन त्योहारों में भाग लेते हैं ।

प्रत्येक त्योहार में अपनी विधि व परंपरा के साथ समाज, देश व राष्ट्र के लिए कोई न कोई विशेष संदेश निहित होता है । भारत में विजयादशमी का पर्व जिस प्रकार असत्य पर सत्य की तथा अधर्म पर धर्म की विजय का संदेश देता है उसी प्रकार रक्षाबंधन का पावन पर्व भाई-बहन के पवित्र प्रेम और भाई का बहन की आजीवन रक्षा करने के संकल्प को याद कराता है । इसी प्रकार रंगों का त्योहार होली हमें

संदेश देता है कि हम आपसी कटुता व वैमनस्य को भुलाकर अपने शत्रुओं से भी प्रेम करें ।

ईसाइयों का त्योहार क्रिसमस संसार से पाप के अंधकार को दूर करने का संदेश देता है तो मुसलमानों की ईद भाईचारे का संदेश देती है । इस प्रकार सभी त्योहारों के पीछे समाजोत्थान का कोई न कोई महान उद्देश्य अवश्य ही निहित होता है । लोग एक-दूसरे के करीब आते हैं जिससे आपसी वैमनस्य घटता है । त्योहारों के अवसर पर दान देने, सत्कर्म करने की जो परंपरा है, उससे सामाजिक ताने-बाने को बनाए रखने में मदद मिलती है ।

ये त्योहार मनुष्य के जीवन को हर्षोल्लास से भर देते हैं । इन त्योहारों से उसके जीवन की नीरसता समाप्त होती है तथा उसमें एक नवीनता व सरसता का संचार होता है । त्योहारों के आगमन से पूर्व ही मनुष्य की उत्कंठा व उत्साह उसमें एक सकारात्मक व सुखद परिवर्तन लाना प्रारंभ कर देते हैं । वह संपूर्ण आलस्य व नीरसता को त्याग कर पूरे उत्साह के साथ त्योहारों की तैयारी व प्रतीक्षा करता है । त्योहारों के शुभ अवसर पर निर्धन से निर्धन व्यक्ति भी नए वस्त्र धारण करते हैं एवं समस्त दुख-अवसादों को भुलाकर त्योहार की खुशियाँ मनाते हैं । त्योहारों के अवसर पर पंडितों, गरीबों तथा अन्य लोगों को दान आदि देकर संतुष्ट करने की प्रथा का भी समाज पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है । भूखे को भोजन, निर्धनों को वस्त्र आदि बाँटकर लोग सामाजिक समरसता लाने का प्रयास करते हैं ।

त्योहार पारिवारिक, सामाजिक व राष्ट्रीय एकता में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं । त्योहारों का आनंद और भी अधिक होता है जब परिवार के सभी सदस्य एक साथ त्योहारों में हिस्सा लेते हैं । परिवार के सदस्यों का त्योहार के शुभ अवसर पर एकत्र होने से कार्य की व्यस्तता के कारण जो संवादहीनता या परस्पर दुराव उत्पन्न होता है वह समाप्त हो जाता है । संवेदनाओं व परस्पर मेल आदि से मानवीय भावनाएँ पुनर्जीवित हो उठती हैं । इसके अतिरिक्त पारिवारिक संस्कार आदि का बच्चों पर उत्तम प्रभाव पड़ता है ।

त्योहारों को समाज के सभी वर्गों के साथ मनाने से सामाजिक एकता में प्रगाढ़ता आती है । इसी प्रकार हमारे कुछ राष्ट्रीय पर्व जैसे गणतंत्र दिवस, स्वतंत्रता दिवस,

बाल दिवस, शिक्षक दिवस व गाँधी जयंती को सभी धर्मों, जातियों व संप्रदायों के लोग मिल-जुल कर खुशी से मनाते हैं ।

इन अवसरों पर सारा राष्ट्र उन महापुरुषों व देशभक्तों को याद करता है जिन्होंने देश की स्वतंत्रता के लिए अपने प्राणों को सहर्ष न्यौछावर कर दिया । इस प्रकार हमारे ये राष्ट्रीय पर्व देश को एक सूत्र में बाँधे रखने में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं । दूसरे शब्दों में, हमारे त्योहार राष्ट्रीय एकता को मजबूत करते हैं । वे भारतीय नागरिकों के मन में देशप्रेम व बंधुत्व का भाव जगाते हैं ।

हमारे त्योहार हमारी भारतीय सांस्कृतिक परंपरा व भारतीय सभ्यता के प्रतीक हैं । ये त्योहार हमारी संस्कृति की धरोहर हैं । इन पर्वों व त्योहारों के माध्यम से हमारी संस्कृति की वास्तविक पहचान होती है । इस प्रकार हम देखते हैं कि त्योहारों का हमारे जीवन में विशेष महत्व है । ये त्योहार हमारी नीरसता को समाप्त कर उसमें नया उत्साह व खुशी का रस भरते हैं । इसके अतिरिक्त हमारी पारिवारिक, सामाजिक व राष्ट्रीय एकता को प्रगाढ़ बनाने में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं ।

हम सभी भारतीय नागरिकों का यह पुनीत कर्तव्य है कि हम त्योहारों को सादगी व पवित्रता से मनाएं । अपने निजी स्वार्थों से उनकी छवि को धूमिल न करें । उन तत्वों का बहिष्कार करें जो इनकी गरिमा को धूमिल करने की चेष्टा करते हैं ।

त्योहारों को मनाने की विधियों में जो विकृतियाँ आ गई हैं, यथा - मदिरापान, जुआ खेलना, धार्मिक उन्माद उत्पन्न करना, ध्वनि प्रदूषण व वायु प्रदूषण को बढ़ावा देना, उन्हें शीघ्रातिशिघ्र समाप्त करना होगा । हम त्योहारों को उनकी मूल भावना के साथ मनाएँ ताकि सुख-शांति में वृद्धि हो सके ।

आभार एवं समार

हषिकेश सुलभ – रंगमंच का जनतंत्र

अंजता पुरी – साक्षात्कार

डा0 सुरेश गौतम – लोक साहित्य अर्थ और व्याप्ति

डा0 भोला नाथ त्रिपाठी – शब्दाकार वृहता हिन्दी लोकोक्ति कोटा

कृष्णदेव उपाध्याय– लोक साहित्य की भूमिका

राजेन्द्र रंजन चतुर्वेदी – लोकवर्ता

डा0 कन्हैयालाल सहल – कहावते एक अध्याय

डा0 ताराकान्त मिश्र – मैथली लोक साहित्य

डा0 सत्येन्द्र – ब्रजलोक साहित्य

सूर्यप्रकाश – लोकोक्ति और मुहावरा

मोहनलाल बाबुलकर – गढवाली लोक साहित्य

शंकर लाल यादव– पाठशाला

हरिवंश राय शर्मा – पाठशाला

प्रो0 गिरीश्वर मिश्रा – पाठशाला

प्रो0 रमेंश गौतम – पाठशाला

मुन्ना पाण्डे – पाठशाला

आनंद वर्धन शर्मा – पाठशाला

अरूण कुमार त्रिपाठी – पाठशाला

कृपाशंकर चौवे – बंगला रंगमंच का इतिहास

कुमार गौरव मिश्रा – पूर्वाचल

दिनकर कुमार – असमिया नाटको को विकास यात्रा

मेधा साठे – मराठी रंगमंच का विकास

नितप्रिया प्रलय– बिहार का लोक नाट्य

निरंजन महावन – छत्तीसगढ के लोक नाटय

हेमंत कुमार उपाध्याय – लोक साहित्य का मर्म

आकांक्षा यादव – लोक साहित्य में स्वाधिन्ता की अनूगूँज

पंकज कुमार –

पूंज कुमार –
लता तिवारी

चतुर्थ अध्याय

संहार :– संपूर्ण कार्यों को निष्कर्ष, नाट्य संगीत तथा लोकोक्ति कहावतें एवं मुहावरों का संकलन। विभिन्न प्रदेशों के लोकभाषा, लोकनाट्य एवं वहाँ की परंपराएं । नाट्य मंडलियों के साथ किये गये रंग संगीत कार्यशालाओं का अनुभव एवं लोकोक्ति कहावतें, मुहावरों के द्वारा तैयार किये गये गीत।

जैसा कि मेरे शोध का विषय है

‘‘नाट्य संगीत का आधार लोकाक्ति, मुहावरे और कहावतें। ’’

शोध उपरान्त हम कह सकते हैं कि प्राचीन काल से ही लोकोक्ति, मुहावरें एवं कहावतें मानव के जीवन शैली का अभिन्न हिस्सा था। प्राचीन काल से ही ज्ञान को मौखिक रूप से ही एक पिढी से दूसरे पीढी में स्थांतरित करने का माध्यम था । साथ ही जल्दी ज्ञान आत्मसाथ हो जाये इसलिए से गायन शैली या गीतों के रूप में होता था। क्योंकि इसके प्रयोग से रोचकता के साथ साथ हास्य व्यंग्य ही उत्पति होती है। साथ ही भाषा का सौंदर्य और सार्थकता भी बढ जाती है।

वैदिक युग में संगीत समाज में स्थान बना चुका था । सबसे प्राचीन ग्रंथ ऋगवेद में आयों का अमोद प्रमोद का मुख्य साधन संगीत को बताया गया है। यर्जुवेद में संगीत को अनेक लोंगों की आजीविका का साधन बताया गया है। फिर गान प्रधान वेद सामवेद आया, जिसे संगीत का मूल ग्रन्थ माना गया।

संगीत का आदिम श्रोत प्रकृतिक ध्वनियाँ ही हैं । प्राक् संगीत–युग में मनुष्य के प्रकृति की ध्वनियों ओर उनकी विशिष्ट लय को समझने की कोशिश की । हर तरह की प्राकृतिक ध्वनियाँ संगीत का आधार नहीं हो सकती अर्थात भाव पेदा करने वाली ध्वनियों को परखकर संगीत का आधार बनाने के साथ–साथ उन्हें लय में बाँधने का प्रयास किया गया होगा । प्रकृति की वे ध्वनियां जिन्होंने मनुष्य के मन मस्तिष्क को स्पर्श कर उलस्सित किया, वही सभयता के विकास के साथ संगीत का साधन बनी। हालाकि विचारको में भिन्न भिन्न मत हैं। दार्शनिकों ने नाद के चार भागों परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी में से मध्यमा को संगीतोपयोगी स्वर का आधार माना। डार्विन ने कहा कि पशु रति के समय मधुर ध्वनि करते हैं। मनुष्य ने जब इस प्रकार की ध्वनियों का अनुकरण आरंभ किया तो संगीत का उद्भव हुआ । कार्ल स्टम्फ ने भाषा उत्पति के बाद मनुष्य द्वारा ध्वनि की एकतारता को स्वर की उत्पति माना । 19 वीं सदी के उत्तरार्ध में भारतेन्दु हरशिचन्द्र ने कहा कि संगीत की उत्पति मानवीय संवेदना के साथ हुई । उन्होने संगीत को गाने, बजाने, बताने और नाचने का सामुच्चय बतलाया ।

गाना, बजाना और नाचना प्रायः इतने पुराने हैं, जितना पुराना आदमी है। बजाने और बाजे की कला आदमी ने कुछ बाद में खोजी–सीखी हो, पर गाने और नाचने का आरंभ तो न केवल हजारों बल्कि लाखों वर्ष पहले उसने कर लिया होगा, इसमें संदेह नही।

गान मानव के लिए प्रायः उतना ही स्वाभाविक हैं जितना भाषण। कब से मनुष्य ने गाना प्रारंभ किया ये बतलाना उतना ही कठिन है

जितना कि कब से उसने बोलना प्रारंभ किया। परन्तु बहुत काल बित जाने के बाद उसके गान ने व्यवस्थित रूपधारण किया। जब स्वर और लय व्यवस्थित रूप धारण करते हैं तब एक कला का प्रादुर्भाव होता है और इस कला को संगीत, म्यूजिक या मौसिकी कहते है। युद्ध उत्सव और प्रार्थना या भजन के समय मानव गाने बजाने का उपयोग करता चला आया है।

भारत में लोक संगीत का इतिहास अत्यंत प्राचीन है। बहुत से विद्वानों का तो यहां तक मानता है कि शास्त्रीय संगीत की उत्पति लोक संगीत से हुई है। इसका प्रमाण यह है कि लोक संगीत का प्रभाव संगीत पर स्पष्टतः परिलक्षित होना है। लोक संगीत लोक गीतों की आत्मा है भारतीय लोक जीवन का सुंदरम् प्रतिबिम्ब लोक गीत और लोक संगीत में दिखाई पड़ता है। लोक गीत सरल, सुंदर अनुभूतिमय और संगीतमय होते है। संगीत के बिना लोक जीवन प्राण रहित शरीर के समान है।

प्रागैतिहासिक काल से ही भारत में संगीत की समृद्ध परम्परा रही है। गिने–चुने देशों में ही संगीत की इतनी पुरानी एवं इतनी समृद्ध परम्परा पायी जाती है। माना जाता है कि संगीत का प्रारम्भ सिंधु धाटी की सभ्यता के काल में हुआ हालांकि इस दावे के एकमात्र साक्ष्य है। उस समय की एक नृत्य बाला की मुद्रा में कास्य मूर्ति और नृत्य नाटक और संगीत के देवता रूद्र अथवा शिव की पूजा का प्रचलन।

सिंधु धाटी की सभ्यता के पतन के पश्चात् वैदिक संगीत की अवस्था का प्रारम्भ हुआ जिसमें संगीत की शैली में भजनों और मंत्रो के उच्चारण से ईश्वर की पूजा और अर्चना की जाती थी। इसके अतिरिक्त दो भारतीय महाकाव्यों रामायण और महाभारत की रचना में संगीत का मुख्य

प्रभाव रहा। भारतीय संगीत के इतिहास के महान संगीतकारों जैसे कि कालिदास, तानसेन अमीर खुसरो आदि ने भारतीय संगीत की उन्नति में बहुत योगदान किया है।

संगीत नाटक के लिए अनिवार्य नहीं वैकल्पिक है। भरत मुनि से लेकर आज के नाट्य चिंतकों ने नाट्य प्रस्तति के लिए आवश्यक रूप से संगीत की अनुसंसा की है। संगीत तथा नृत्य नाट्य प्रस्तुति के अभिन्न अंग के रूप में प्राचीन काल से ही रहा है। नाटक में संगीत की प्रस्तुति जिस रूप में होती है उसे नाट्य संगीत कहा जाता है। नाटकीय भाव या यथार्थ को सघन प्रभावशाली बनाने के लिए संगीत का संयोजन किया जाता है उसे ही नाट्य संगीत माना गया है।

आधारित था। स्थानीय जनजीवन और बोलियों-भाषाओं के प्रभाव में विभिन्न नाट्यशैलियों का उदय और विकास हुआ। इन नाट्यशैलियों ने अपने रंगसंगीत को भी आविष्कृत किया। कतिपय नाट्यशैलियों की पहचान की विशिष्टता और अनिवार्यता उसका रंगसंगीत बना। कुछ नाट्यशैलियों, जात्रा, नौटंकी, अंकिया आदि

को छोड़ दें, तो अधिकांश के पास लिखित नाटकों की परम्परा नहीं रही है। प्रायः यह स्मृति आधारित रंगमंच रहा और सृजन की आशुशक्ति की यहाँ बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। एक पीढ़ी, दूसरी पीढ़ी को गीत और कथानक सौंपती है। हर पीढ़ी इन गीतों और कथानकों के कथ्य और संवेदना को अपने समय और समाज की ध्वनियों से पूरित करती है। नई पीढ़ी का स्पर्श उसे परिवर्तित और विकसित करते रहता है। संवाद तो निरन्तर बदलते रहते हैं। बदलाव की यह प्रक्रिया रंगसंगीत को ग्रहणशील, अभिनव और जनरुचि के अनुकूल बनाती है। गीत यहाँ भावों की अभिव्यंजना के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण रंगयुक्ति के रूप में आते हैं।

पारम्परिक नाट्यशैलियों के रंगसंगीत को लेकर अक्सर तरह-तरह के प्रश्न उठते रहे हैं। इस संगीत की रंग-उपयोगिता पर सन्देह प्रकट किया जाता रहा है। अक्सर यह कहा जाता है कि यहाँ संगीत मात्र कथा को विस्तार देता है या मनोरंजनपरक होता है। इसे रंगमंच के लिए भरती का संगीत भी कहा गया है। पर यह सच नहीं है। जनरुचि के कारण संगीत के उपयोग की बहुलता की बात तो सही है, पर इसका अर्थ यह नहीं कि यहाँ संगीत रंगसृजन में उत्प्रेरक तथा प्रतिभागी तत्त्व नहीं है। कई नाट्यशैलियों की शैलीबद्धता को उसका रंगसंगीत ही अनुशासित करता है। कुछ नाट्यशैलियों में मृदंग और अन्य प्रकार के वाद्य, संवादों की संरचना से लेकर प्रस्तुति और अभिनेता की आंगिक गतियों-मुद्राओं तक को नियंत्रित-संचालित करते हैं। इन वाद्यों की ध्वनियाँ संवाद के साथ एकाकार होकर ऐसी अनुगूँज की रचना करती हैं, जिससे नई अर्थछवियाँ प्रकट होती हैं। पारम्परिक नाट्यशैलियों के रंगसंगीत ने अपने विस्तार को शास्त्रीय संगीत की सीमा तक पहुँचाया। कुछ नाट्यशैलियों के रंगसंगीत की शास्त्रीयता को स्वायत्तता भी प्राप्त हुई। मराठी के रंगसंगीत का संगीत की दुनिया में स्वतन्त्र अस्तित्व है। भागवतमेल के रंगसंगीत को शास्त्रीयता के बराबर का दर्जा हासिल है। अंकिया, नौटंकी, जात्रा, ख़याल, लावनी, कीर्तनिया, बिदेसिया आदि का रंगसंगीत प्रस्तुति के दौरान रंगरचना का प्रमुख उपकरण रहा है। पारसी रंगमंच तक

गीत, नृत्य और वाद्य—तीनों अलग-अलग इकाई होते हुए भी जब रंगमंच पर एकाकार होते हैं—तब संगीत की, रंगसंगीत की रचना होती है। रंगमंच पर इन्हें एक-दूसरे का पूरक बनना पड़ता है। नाटक के भीतर इनके लिए तभी स्थान बनता

है, जब ये अपनी निजता को तजकर रंगछवियों को सम्प्रेषित करें। संगीत का विस्तार, जिसमें गायन, वादन और नृत्य तीनों शामिल हैं, रंगमंच पर अभिनेता को समय के असीमित विस्तार की यात्रा पर ले जाता है। यह एक कठिन यात्रा होती है, पर रंगसंगीत इसे सहज बनाता है। मंच पर जो अदृश्य होता है, उसे रचने और दर्शकों तक उसकी रंगानुभूति को सम्प्रेषित करने में रंगसंगीत की विशेष भूमिका होती है। देह की गतियों को विशेष लय और आघात से मंच के सीमित स्पेस में प्रक्षेपित कर रंगसंगीत असीम का विस्तार रचता है। एक ऐसा विस्तार जहाँ दर्शक जीवन को उसके सम्पूर्ण महाकाव्यात्मक विस्तार, तरल संवेदनाओं और आत्मा को छूनेवाले स्पन्दनों के साथ पाता और विश्लेषित करता है। हिन्दी रंगमंच पर यह सब कारंथ

नाट्य संगीत के बारे में संगीत निर्देशिका अंजना पुरी का कहना है कि थियेटर म्यूज़िक के बारे में जब मैं सोचती हूं तो मेरे जेहन में एक अभिनेता की स्पीच, टोन और उतार-चढ़ाव का भी ग्राफ कौंधता है। केवल रंग-प्रस्तुतियों में दो-चार गाने ही संगीत नहीं हैं। ट्रेन की आवाज़, शहर का शोर, कल-कारखानों की ध्वनियां और किसी रूई धुनने वाला का रिद्म भी थियेटर संगीत का हिस्सा हो सकता है। थियेटर संगीत की परिभाषा और दायरे को लेकर अभी और भी चिंतन-मनन करने की जरूरत है। कुछ नाटकों का जिक्र करूं तो 'जर्नी ऑफ फ्रीडम' में प्रवीण कुमार गुंजन ने ध्वनियों का बेहतरीन इस्तेमाल किया है। इसी तरह बी वी कारंथजी के नाटक 'बाबूजी' में नौटंकी गायकी की बारीकियां नज़र आ गईं थीं।

वो बताती हैं, थियेटर म्यूजिक की उनकी यात्रा बतौर कम्पोजर और बतौर शिक्षक रंग विदूषक के साथ ही शुरू हुई। 1994 में 'नैन नचैया' के जरिए उन्होंने पहली बार म्यूजिक कम्पोज किया और इस प्रस्तुति के संगीत को जो सराहना मिली, उसने उन्हें नई ऊर्जा दी। 'वो जो अक्सर झापड़ खाता है' के संगीत में उन्होंने अपनी शास्त्रीय पृष्ठभूमि की वजह से राग भैरवी को संगीत का आधार बनाया। संगीत नाटकों में 'कहन कबीर' और 'वतन का राग' 1999-2000 के दौरान तैयार किए गए। इनका संगीत एक चुनौती भी रहा तो आनंद का स्रोत भी बना। कलाकारों की टोलियां नाचतीं-गातीं संगीत के दम पर दर्शकों का भरपूर मनोरंजन करतीं।

लोकनाट्य

लोकनाट्यों का लोकजीवन से अत्यंत घनिष्ठ संबंध है। यही कारण है कि लोक से संबंधित उत्सवों, अवसरों तथा मांगलिक कार्यों के समय इनका अभिनय किया जाता है। विवाह के अवसर पर अनेक जातियों में यह प्रथा है कि स्त्रियाँ बारात विदा हो जाने पर किसी 'स्वाँग' या 'साँग' का अभिनय प्रस्तुत करती हैं जिसे 'भोजपुरी' प्रदेश में 'डोमकछ' कहते हैं।

लोकनाट्यों की भाषा बड़ी सरल तथा सीधी सादी होती है जिसे कोई भी अनपढ़ व्यक्ति बड़ी आसानी से समझ सकता है। जिस प्रदेश में लोकनाट्यों का अभिनय किया जाता है, नट लोग वहाँ की स्थानीय बोली का ही प्रयोग करते हैं। ये लोग अभिनय के समय गद्य का ही प्रयोग करते हैं। परंतु बीच-बीच में गीत भी गाते जाते हैं। लोकनाट्यों के संवाद बहुत छोटे तथा सरस होते हैं। लंबे कथोपकथनों का इनमें नितांत अभाव होता है। लंबे संवादों को सुनने के लिए ग्रामीण दर्शकों में धैर्य नहीं होता। अत: नाटकीय पात्र संक्षिप्त संवादों का ही प्रयोग करते हैं।

लोकनाट्यों का कथानक प्राय: ऐतिहासिक, पौराणिक, या सामाजिक होता है। धार्मिक कथावस्तु को लेकर भी अनेक नाटक खेले जाते हैं। बंगाल के लोकनाट्य 'जात्रा' और 'कीर्तन' का आधार धार्मिक आख्यान होता है। राजस्थान में अमरसिंह राठौर की ऐतिहासिक गाथा का अभिनय किया जाता है। केरल प्रदेश में प्रचलित 'यक्षगान' नामक लोकनाट्य का कथानक प्राय: पौराणिक होता है। उत्तरप्रदेश की रामलीला और रासलीला की पृष्ठभूमि धार्मिक है। नौटंकी और स्वाँग की कथावस्तु समाज से अधिक संबंध रखती है।

लोकनाट्यों में प्राय: पुरुष ही स्त्री पात्रों का कार्य किया करते हैं परंतु व्यवसायी नाटक मंडलियाँ साधारण जनता को आकृष्ट करने के लिए सुंदर लड़कियों का भी इस कार्य के लिए उपयोग करती हैं। लोकनाट्यों के पात्र अपनी वेशभूषा की अपेक्षा अपने अभिनय द्वारा ही लोगों को आकृष्ट करने की चेष्टा करते हैं। इन नाटकों के अभिनय में किसी विशेष प्रकार के प्रसाधन, अलंकार या बहुमूल्य वस्त्र आदि की आवश्यकता नहीं होती। कोयला, काजल, खड़िया आदि देशी प्रसाधनों से मुख को प्रसाधित कर तथा उपयुक्त वेशभूषा धारण कर पात्र रंगमंच पर आते हैं। कुछ पात्र प्रसाधन के लिए अब पाउडर और क्रीम का भी प्रयोग करने लगे हैं।

लोकनाट्य खुले हुए रंगमंच पर खेले जाते हैं। दर्शकगण मैदान में आकाश के नीचे बैठकर नाटक का अभिनय देखते हैं। किसी मंदिर के सामने का ऊँचा चबूतरा या ऊँचा टीला ही

रंगमंच के लिए प्रयुक्त किया जाता है। कहीं कहीं काठ के ऊँचे तख्तों का बिछाकर मंच तैयार किया जाता है। इन रंगमंचों पर परदे नहीं होते। अत: किसी दृश्य की समाप्ति पर कोई परदा नहीं गिरता। नाटक के पात्रगण किस पेड़ या दीवाल की आड़ में बैठकर अपना प्रसाधन किया करते हैं, जो उनके लिए 'ग्रीनरूप' का काम करता है।

बिहार के लोकनाट्य

बिहार के सांस्कृतिक तथा लोक जीवन में लोकनाट्यों का एक अपना ही एक अलग महत्त्व है। ये लोकनाट्य मांगलिक अवसरों, विशेष पर्वों तथा कभी-कभी मात्र मनोरंजन की दृष्टि से ही आयोजित व प्रायोजित किए जाते हैं। इन लोकनाट्यों में कथानक, संवाद, अभिनय, गीत, नृत्य तथा विशेष दृश्य आदि सभी कुछ होता है। यदि कुछ नहीं होता है तो वह है, सुसज्जित रंगमंच तथा पात्रों का मेकअप एवं वेशभूषा।

प्रचलित लोकनाट्य

बिहार के प्रचलित लोकनाट्य निम्नलिखित हैं-

1. जट-जाटिन
2. सामा-चकेवा
3. बिदेसिया
4. भकुली बंका
5. डोककक्ष
6. किरतनिया

बिहार का लोक नाटय किरतनियाँ

भारतीय इतिहास में मध्यकाल का समय बहुत बड़े परिवर्तन के लिए जाना जाता है। एक ऐसा समय जब समाज राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक सभी धरातल पर चिन्तनशील रहा था। मध्यकाल में मुगल आक्रमण के बाद भारत में नई सत्ता स्थापित होने

के कारण यहां की कला संस्कृति भी बहुत प्रभावित हुई और यह परिवर्तन नाट्य कला में सबसे ज्यादा देखने को मिलता है। इस समय नाटक को राजाश्रय मिलना समाप्त हो गया, नाटक राजमहल से निकल कर बाहर आमजनता के बीच अपना स्थान बना रहा था। चूंकि उस समय नाटकों की भाषा संस्कृत हुआ करती थी और आमजनता में इस भाषा की जानकारी का आभाव होने के कारण सम्पूर्ण भारत के नाट्यकला में एक परिवर्तन देखने को मिलता है। यह परिवर्तन है क्षेत्रीय मिश्रित भाषाशैली का विकास। इस शैली के नाटकों में संस्कृत तथा क्षेत्रीय भाषा के प्रयोग के साथ गीत, संगीत तथा नृत्य की प्रधानता देखने को मिलती है यह परिवर्तन बिहार के किरतनियाँ नाट्य में भी देखने को मिलता है। इस नाट्य शैलीयों का जन्म बिहार के मिथिला लोक नाट्य परंपरा में हुआ।

प्रसिद्ध लेखक जगदीशचंद माथुर ने अपनी पुस्तक परंपराशील नाट्य में लोकनाट्य के बारे में लिखा है "इस शैली का विकास पूर्व-मध्ययुगीन भारतवर्ष में कतिपय सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के कारण हुई। जिस समय संस्कृत-नाटक ह्रासोन्मुखी हो रहा था, इसी युग में संस्कृत का ज्ञान जनसाधारण में कम होने लगा और नाट्य में प्रेषणीयता बढ़ाने के लिए देशी भाषा में गीतों का समावेश किया जाने लगा"।

लोकनाट्य के बारे में डॉ. ओमप्रकाश भारती लिखते हैं संस्कृत रंगमंच के पतन के साथ ही संस्कृत भाषा का भी पतन आरंभ हो चुका था। 10वीं शताब्दी से 13वीं शताब्दी के बीच लोक व्यवहार की भाषा अपभ्रंश और प्रादेशिक बोलियां हो चुकी थीं। तत्कालीन नाट्य प्रयोक्ताओं ने नाटकीय प्रेषणीयता बढ़ाने के लिए संस्कृत नाटकों में देशी भाषा के गीतों का समावेश किया। इस परंपरा के आदि प्रणेता कुलशेखर वर्मन थे, जिन्होंने संस्कृत नाटकों को जनसाधारण में बोधगम्य बनाने के लिए चाक्यार को विदूषक की भूमिका में प्रस्तुत कर स्थानीय भाषा में गीत टिप्पणी, व्याख्या एवं समसामयिक और सामाजिक परिहास पद्धति का नाट्य प्रदर्शन में समावेश कर दिया। यही नाट्य बाद में 'कुडियात्तम' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

आम जनता के बीच अनेक प्रकार के नाट्य-प्रदर्शन आदिकाल से और संस्कृत-नाट्य के गौरवकाल में भी होते रहे थे, तथापि रासलीला, अंकिया नाट, जात्रा, भागवतमेल, सांग इत्यादि वर्त्तमान लोकप्रिय शैलियों का उद्भव और संस्कृत नाट्य के ह्रासकाल में एक ऐसी नृत्य-संगीत-संवाद और मिश्रित शैली से हुआ, जिसका लक्षणकारों ने तो उल्लेख नहीं किया है, लेकिन जिसके लिए नाटककरों एवं अन्य लेखकों ने 'संगीतक' शब्द का व्यवहार किया।

उपरोक्त तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता हैं कि भाषा नाटक का विकास मध्यकाल में लगभग 10वीं शताब्दी तक हो चुका था। मध्यकाल का यह एक नया प्रयोग था, जो संस्कृत नाटकों में किया गया। जिसका उदेश्य था आमजनता के बीच नाटक की लोकप्रियता को बढ़ना क्योंकि नाटक ही एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा मनोरंजन के साथ-साथ आसानी से सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, आदि समस्याओं से हर वर्ग के जनता को अवगत कराया जा सकता है। चूंकि मध्यकाल तक आते-आते देश में अन्य शासकों के आक्रमण तथा नई सत्ता (मुगल राज्य) स्थापित होने के कारण संस्कृत नाटक पतन की ओर जा रहा था। किन्तु, इसी युग में देश के कुछ कोनों में हिंदू-नरेशों ने नई नाट्य-विधाओं के विकास में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। जिसके फलस्वरूप नई नाट्य-शैली 'भाषा-नाटक' का विकास हुआ। जिसका विकास यात्रा मध्यकाल से शुरू होता है।

भाषा नाट्यशैली के विकास के मुख्य प्रवर्त्तक "केरल के कुलशेखरवर्मन, मिथिला- नरेश के हरसिंहदेव, असम के शंकरदेव, ब्रज के नारायण भट्ट, बंग के रुपगोस्वामिन, आन्ध्र के सिद्धेन्द्रयोगी और तंजोर के रघुनाथ नायक माने जाते है।

किरतनियाँ मिथिलाञ्चल बिहार का पारंपरिक लोक नाट्य है। इसका स्वरूप मध्यकाल की पृष्ठभूमि में सामने आता है। किरतनियाँ नाट्य संरचना और अभिनय पद्धति के कारण से यह असम के अंकिया नाट, बिहार के बिदापत से समानता रखता है। नाट्य प्रस्तुति के प्रारम्भ में प्रस्तावना, वंदना और अंत में 'मंगल गायन' इस परंपरा का संबंध पुरातन नाट्य रासक और शास्त्रीय रंगमंच से स्थापित करता है। इस नाट्य शैली में आज भी जयदेव के गीतगोविंद की संगीत पद्धति, रस परंपरा के अवशेष देखे जा सकते हैं। ये लोकनाट्यों परंपरा अत्यंत समृद्ध रही है। सम्पूर्ण भारत के लोकनाट्यों को प्रभावित करने वाले तीन मुख्य कारण की उत्पत्ति यही हुई है। 11वीं शताब्दी में ज्योतिरीश्वर ठाकुर द्वारा रचित वर्णरत्नाकर, जयदेव का 'गीतगोविंद' तथा उमापति द्वारा रचित 'पारिजातहरण नाटक' इन तीन ग्रंथो का प्रभाव उत्तर से दक्षिण, पूर्वी भारत के लगभग सभी लोकनाट्यों पर पड़ा। ज्योतिरीश्वर ठाकुर के द्वारा रचित 'वर्णरत्नाकर' की बात करें तो यह ग्रंथ तत्कालीन समाज और कला का विश्वकोश है। यह गद्य काव्य है,जो प्राचीन मैथिली भाषा में लिखा गया है। विद्वानों ने इसे आधुनिक आर्य भाषा का प्राचीनतम ग्रंथ कहा है, बिदापत तथा नटुआ नाच जैसे नाट्य रूपों की चर्चा हमें वर्णरत्नाकर से ही मिलती है, वर्णरत्नाकर में वाद्यों कलाजीवियों, चौसंठ कलारूपों, नायक-नायिका के प्रकार का उल्लेख हुआ है।

संगीतशास्त्रीय दृष्टि से वर्णरत्नाकर महत्वपूर्ण ग्रंथ है, इसमें 45-46 रगों का उल्लेख हुआ जिनका प्रयोग कीर्तनियाँ नाटकों में हुआ है।

बिहार के पारंपरिक नाट्य में डॉ. ओमप्रकाश भारती लिखते है कि मध्यकाल में जब संस्कृत रंगमंच पतोनोंमुखी हो रहा था तो साहित्यिक नाटकों की परंपरा भी टूटने लगी। ऐसी स्थिति में संस्कृत रंगमंच को जीवित रखने का पूरा श्रेय लोक रंगमंच को जाता है। इस समय रंगमंच में यह परिवर्तन पूरे देश में देखने को मिलता है। इसी समय केरल से लेकर असम तक की रंगशालाओं में विभिन्न नाट्य रूप दोबारा से जीवित हो गए। रंगमंच के इस विकास में देश के राजाओं का योगदान बहुत ही महत्वपूर्ण रहा। इन्होंने न केवल नाटककार और नाट्य प्रदर्शन को आश्रय दिया बल्कि स्वयं यह नाट्यान्दोलन के विकास का नेतृत्व भी किया। "मिथिला में इस आन्दोलन के अगुवा कर्नाटवंशी शासक हरिसिंह देव थे। उनके शासन काल (14वीं शताब्दी) में जो नाट्य परंपरा स्थापित हुई, वह बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक तक निरंतर प्रवाहित होती रही। इसी नाट्य परंपरा को विद्वानों ने किरतनियाँ नाटक से संज्ञापित किया है।

किरतनियाँ नाटक की परंपरा लगभग छः सौ वर्षों तक अविच्छिन्न रूप से चलती रही। इस समय में लिखे गए नाटकों में केवल बीस नाटक उपलब्ध हैं। इन नाटकों के नाम \ कथासूत्र, नाटककार के नाम, आश्रयदाता \ शासक, रागों और तालों की तालिका निम्नलिखित है:

किरतनियां नाट्य की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

- किरतनियां नाट्यशैली के सभी नाटकों में नृत्य और संगीत का अत्यधिक उपयोग किया गया है। संगीत नृत्य और संवाद तीनों ही इन नाट्यशैली के अनिवार्य अंग हैं और इन तीनों के सम्मिश्रण से ही सौन्दर्य-बोध होता है।
- किरतनियां नाट्यशैली की यह विशेषता है कि इसमें अभिनय रूढ़ीगत होता है। इस नाट्यशैली में भाषा को स्पष्ट करने के लिए विभिन्न मुद्राओं का प्रयोग किया जाता है और इसके संवादों पर विशेष स्वराघात किया जाता है।
-
- इस नाट्यशैली में एक ही प्रकार के पौराणिक कथानकों का प्रयोग हुआ है। नृसिंहावतर, श्रीकृष्ण-लीला, रामचरित, महाभारत के दृश्य- यह कथाएँ असम से केरल तक सभी प्रकार के नाट्यों में मिलती हैं।

- इस नाट्यशैली में सूत्रधार और विदूषक की भूमिका महत्त्व पूर्ण होती है| सूत्रधार केवल प्रारंभ में ही नहीं रहता बल्कि वह सम्पूर्ण नाट्य में किसी-न-किसी रूप में मौजूद रहता है। सूत्रधार नाटक की कथा को आगे बढ़ाता है और दर्शकों एवं कथानक को जोड़ने का काम करता है।
- देशी और मार्गी दोनों प्रकार के संगीत क्षेत्रीय नाटकों में प्रायः पाए जाते हैं। इस नाट्यशैलियों में जो संगीत प्रयुक्त हुआ है, वह रागानुबद्ध तथा तालानुबद्ध होता है।
- नाटकों में जिस संगीत का प्रयोग हुआ वह रस तथा भाव पर आधारित है।
- इसमें प्रयुक्त संगीत में दृश्य की प्रधानता है। जिसमें चरित्र-चित्रण, घटनावली, पात्रों का प्रवेश तथा प्रस्थान, घटना के आधार पर रस, ताल आदि समाहित हैं।
- इस नाट्यशैली का आधार ग्रन्थ जयदेव कृत 'गीतगोविन्द' है। जिसमें नृत्य, गीत, संगीत की प्रचुरता है।
- इस नाट्यशैली में क्षेत्र में पहले से प्रचलित नृत्य और संगीत का प्रयोग किया गया है।
- इस नाट्यशैली के लगभग प्रत्येक नाट्य में पूर्वरंग विशेष महत्त्व रखता है। वस्तुतः पूर्वरंग इन नाट्यों का सबसे व्यापक चिन्ह है।
- गीतों में प्रयुक्त राग हिन्दुस्तानी तथा कर्नाटकी दोनों संगीत पद्धति का प्रयोग किया गया है।

छत्तीसगढ़ के लोकनाट्य

छत्तीसगढ़ अपनी लोक परम्पराओं के मामले में अत्यंत समृद्ध है। यहाँ की लोक संस्कृति जहाँ सम्पूर्ण देश के प्रभावों को आत्मसात करती रही, वहीं दूसरी ओर यहाँ के भीतरी आदिवासी अंचल लंबे समय तक बाहरी दुनिया के लिए लगभग बंद जैसे रहे। इसके कारण आदिवासी कला बाह्य प्रभावों से बची रही। उपरोक्त कथन विरोधाभासी प्रतीत होता है परन्तु यहाँ की भौगौलिक स्थिति में यह बात सही है। इस तथ्य का प्रमाण यहाँ के आदिवासियों के लोक नृत्य एवं लोक गीत हैं बस्तर से ले कर सरगुजा तक फैले हुए विभिन्न आदिवासी समुदायों में विद्यमान उनके नृत्यों को ध्यान पूर्वक देख जाए तो ज्ञात होता है कि अनेक आदिवासियों ने अपने नृत्य, गीत, मिथ कथाएँ, संगीत आदि सभी कला रूपों को काफी हद तक सुरक्षित रखा है। सरगुजा रायगढ़ ने सरहुल, करमा छत्तीसगढ़ के मैदानी भागों में

साल्हो (ददरिया) डंडा, सूवा नृत्य तो बस्तर में हुलकी ककसाड और गौर सींग नृत्य सभी अपनी अपनी परंपरागत शैलियों में सुरक्षित है। इन नृत्य एवं गीतों के अलावा यहाँ कुछ परंपरागत समृद्ध मंचीय कला रूप भी विद्यमान है।

भतरा -

भतरा नाट के दो नाट्य रूप प्रचलित हैं। रायपुर, गुर्ग, राजनाँद गाँव जिलों में नाचा और पंडवानी नाट्य रूप विद्यमान हैं। विलासपुर और कवर्धा जिलों में रहस् नाट्य स्वरूप यहाँ की विशिष्ट सांकृतिक पहचान है, गम्मत लगभग बस्तर को छोड़ कर सम्पूर्ण छत्तीसगढ़ में प्रचलित है। गम्मत के भी दो रूप प्रचलित हैं खड़ी गम्मत या खड़े गम्मत और बैठे साज की गम्मत। रहस् जिसे रतनपुरिया रहस् के नाम से भी जाना जाता है रासलीला का ही एक रूप है। इस नाट्यरूप में कृष्ण की बाल लीलाओं का ही मंचन किया जाता है। रहस् रास शब्द का ही अपभ्रंश रूप है। वाजिद अली शाह भी अवध में रास लीला का मंचन रहस के नाम से ही करते थे।

''भतरा नाट'' उड़ीसा से लगाने वाले बस्तर के पूर्वी क्षेत्र में प्रचलित है जहाँ भतरा जन जाति निवास करती है। इस नाट्य में प्रमुख रूप से भतरा जन जाति ही भाग लेती है। इसलिये इस शैली का नामकरण उन्हीं के नाम पर भतरा नाट पड़ गया है। बस्तर के पूर्व शासक जब जगन्नाथपुरी की यात्रा पर गए थे तब वे अपने साथ बस्तर के बहुत से आदिवासियों को भी ले कर गए थे। वहाँ से आने के पश्चात उन्होंने अपने साथ जाने वाल्व यात्रियों को जनेऊ धारण करवा कर उन्हें हिंदू धर्मावलंबी बना लिया और उन्हें भद्र जन कहा। इस भद्र शब्द का ही अपभ्रंश कालांतर में भतरा हो गया। जगन्नाथ पुरी से वापस आ कर बस्तर में भी जगन्नाथ का मंदिर बनवाया और भगवान जगन्नाथ की रथ यात्रा का आयोजन करने लगे। जगन्नाथपुरी में रथ यात्रा के अवसर पर आयोजित नृत्य, नाट्य, जन संकीर्तन आदि परम्पराओं के प्रभाव भी बस्तर की रथ यात्रा में अपनाए जाने लगे। उन सभी परम्परों के मध्य भतरा नाट्य का उद्भव हुआ। वर्तमान में भी भतरा नाट पर उडिया प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पडता है २०वी शताब्दी के आरंभिक काल तक भातर नाट के मुखौटे व वेशभूषा जगन्नाथपुरी से ही मँगाए जाते थे। नाट की पोथियाँ भी उडिया भाषा में ही उपलब्ध हैं। भतरी एक स्वतन्त्र भाषा है जो छत्तीसगढ़ी व हल्बी भाषा का विस्तार मानी जाती है जिस पर उडिया भाषा का भी काफीप्रभाव दिखाई देता है। अधिकाँश भतरा नाट महाभारत, रामायण

एवं पौराणिक आख्यानों के कथानकों पर ही केंद्रित रहते है। रावण वध, कंस वध, कीचक वध आदि नात अधिक लोकप्रिय हैं। भतरा नाट में भारत मुनि के नाट्य शास्त्र की अनेक बातें विद्यमान हैं नट नटी का प्रवेश और प्रस्तावना, मंचन के पूरे समय तक विदूषक का टेढी मेढी लकड़ी ले कर उपस्थित रहना, पूर्व रंग में गणेश एवं सरस्वती की आराधना करना आदि अनेक तत्व भतरा नाट में विद्यमान हैं जो नाट्य शास्त्र से उत्प्रेरित हैं।

भतरा नाट के आयोजन की तिथि की घोषणा कोटवार आम की टहनी को हिला हिला कर समीपस्थ किसी हाट-बाज़ार में करता है। नाट का मंचन जिस गाँव में किया जाता है उस गाँव में उत्सव जैसा वातावरण बन जाता है। गाँव के प्रमुख मार्गों को आम के पत्तों से सजाया जाता है। कहीं कहीं बाँस के एक प्रवेश द्वार भी बनाते हैं जिसे आम के पत्तों से सजाया जाता है मंच भूमि से एक फुट ऊँचा बनाया जाता है जिसके चारों कोनों पर बाँस बल्लियाँ खड़ी करके ऊपर चन्दोबा तान दिया जाता है। जहाँ बिजली की व्यवस्था नहीं है वहाँ दोनों ओर बाँस बल्लियों पर ही पेट्रोमेक्स लटका दिए जाते हैं। मंच चारों से खुला होता है ओर मंच के चारों ओर दर्शक बैठते हैं। मंच में पीछे की ओर संगीत संगत बैठती है। मंच पर कलाकारों के पहुँचने के लिए दर्शकों के बीच लगभग तीन फुट चौड़ा मार्ग छोड़ दिया जाता है। दर्शकों के बैठने के स्थान पर पानी छिड़क कर धन का पैरा बिछा दिया जाता है। समीप के किसी मकान में कलाकारों के सजने संवरने की व्यवस्था होती है। उसी स्थान से कलाकार मंच पर आना जाना करते हैं। मंच पर प्रवेश एवं मंच पर प्रस्थान नाटकीय अभिनय के साथ होता है। नाट्य प्रदर्शन रात्रि ९ बजे के आस पास प्रारंभ होते हैं और सुबह ४, ५ बजे तक चलते हैं। नाट्य प्रदर्शन के बीच बीच में नृत्य एवं छोटे छोटे हास्य प्रहसन भी चलते रहते हैं जिससे कि दर्शक ऊबे नही। भतरा नाट धान की फसल कटने और उसकी सिंचाई आदि पूर्ण होने के पश्चात आरम्भ हो जाते हैं। बसंत एवं गीष्म ऋतुओं में नाट के आयोजन किसी ना किसी गाँव में चलते रहते हैं।द र्शक दस पन्द्रह किलोमीटर दूर से भी पैदल चल कर या साइकिलों पर नात देखने आते हैं।बस्तर में नाट देखने वालों कि संख्या विशाल है। प्रत्येक प्रदर्शन में देखने वालों की संख्या आठ से दस हज़ार होना आम बात है। एक नाट मंडली एक ही नाटक करती है। ग्रामीण जनों को ज्ञात है कि किस गाँव की मंडली कौन सानाट करती है। बराबर एक ही नाट करने के कारण कलाकार उसमे पारंगत हो जाते हैं। बस्तर में जबरदस्त जन उत्साह देख कर आश्चर्य चकित होना पड़ता है।

माओपाटा -

बस्तर का दूसरा नाट्य माओपाटा है जो यहाँ कि मुरिया जन जाति में प्रचलित है।यह लोक नाट्य शिकार कथा पर आधारित है जिसमे आखेट पर जाने कि तैयारी से लेकर शिकार पूर्ण हो कर शिकारियों के सकुशल वापस आने पर समारोह मनाने कि तैयारी तक कि घटनाओं का नाटकीय मंचन किया जाता है। नाट्य क्षेत्र के विद्वानों का मत है कि नाट्य विधा का उद्भव आदिम काल में आखेट प्रसंगों के नाटकीय वर्णन से ही हुआ होगा। आखेट के पश्चात जब शिकारी वापस आते थे तो शिकार के अवसर पर घटित रोमांचक घटनाओं का वर्णन वह नाटकीय ढंग से अपने कबीले के लोगों के सम्मुख प्रस्तुत करते थे।इसी बिंदु पर नाटक का उद्भव हुआ होगा। आखेट से सकुशल लौटने पर वह अपने देवी देताओं के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करते थे और इस अवसर पर वह अपने हथियारों और पैरों को भूमि पर पटक कर अपने भावनाएँ अभिव्यक्त करते थे और उल्लास पूर्वक समूह रूप में चक्कर लगते थे या पंक्तिबद्ध हो कर देवताओं का अभिवादन करते थे और प्रन्नता व्यक्त करने के लिए भांति भांति की चीत्कारें और आवजे निकालते थे। इन अभिव्यक्तियों ने ही कालांतर में नृत्य और गीतों का रूप ग्रहण किया होगा।

माओपोटागौर (बाइसन) के सामूहिक आखेट पर आधारित नृत्य नाट्य है। आखेट पर जाने के लिए ग्रामीण पुरुष गाँव के एक स्थान पर एकत्र होते हैं। गाँव की स्त्रियाँ उनकी मंगल कामना करते हुए गीत गा कर उन्हें विदा करती हैं। शिकारी वन में जा कर भिन्न भिन्न प्रकार की किलकारियाँ करते हैं। और वहाँ एक ''गौर'' प्रकट होता है। शिकारी उसे घेरते हैं और वह वन्य पशु एक शिकारी पर आक्रमण करके उसे घायल करके घेरा तोड़ कर भाग जाता है। शिकारी चेतना हीन हो जाता है। शिकारी उसे ले कर गाँव की गुडी (पूजा स्थल) में ले कर जाते हैं। वहाँ सिरहा घायल व्यक्ति की जाँच करता है और पता है कि अभी उसकी नाड़ी चल रही है। वह देवी देवताओं को मदिरा का तर्पण करके स्वयं मदिरापान करता है फिर पराशक्तियों का आह्वान करता है। पराशाक्तियाँ उसके शरीर में प्रकट होती हैं और वह मोरपंख की झाड़ू से घायल शिकारी की झाड़ फूँक करने लगता है। थोड़ी देर में घायल शिकारी की चेतना लौट आती है और वह उठ कर बैठ जाता है। उस शिकारी के स्वस्थ होने पर सभी ग्रामवासी प्रसन्न हो उठते हैं। स्त्रियाँ पुनः मंगलगीत गा कर शिकारियों को आखेट के लिए विदा करती हैं। शिकारी पुनः वन में पहुँच कर किलकारियाँ लगा कर गौर को बुलाने लगते हैं। गौर वन के

भीतर से प्रकट हो कर इधर उधर भागने लगता है। सभी शिकारी धनुष बाण व टँगिये (कुल्हाड़ी) से उस पर आक्रमण करते हैं और गौर वहीं ढेर हो जाता है। शिकारी उसे उल्टा लटका कर गाँव में ले आते हैं। उसे गाँव की गुडी के सम्मुख रख कर शिकारी बैठ जाते हैं। स्त्रीयाँ गुडी के सामने एकत्रित हो कर नृत्य करते हुए गीत गा कर देवी देताओं के प्रति आभार प्रकट करती हैं। अंत में सिरहा, देवताओं को मदिरा का तर्पण करते हुए सभी उपस्थित जनों को प्रसाद रूप में मदिरा पान करवाता है। शिकारी एवं सभी गाँव वासी आनंद मनाते हैं।
इस नृत्य नाट्य में दो युवक गौर बनते हैं। एक युवक सामने झुक कर खड़ा होता है और दूसरा युवक उसकी झुक कर पीठ पकडता है। सामने वाला युवक सींग लगा हुआ मुखौटा धारण करता है जो एक कम्बल के साथ सिला हुआ होता है। वह कम्बल दोनों युवक ओढ़ कर गौर का रूप धारण करते हैं। कम्बल के पीछे के भाग को पूँछ के सदृश बनाया जाता है। सम्पूर्ण नृत्य नाट्य में बाईसन की आक्रामक मुद्रा का गतिमान अभिनय, शिकारियों के रूप में युवकों का अभिनय एवं सिरहा का अभिनय बहुत ही नाटकीय एवं प्रभावशाली होता है। माओपाटा घोटुल के युवक युवतियों का एक प्रमुख नृत्य नाट्य है जिसे वे रुचिपूर्वक अभिनीत करते हैं।
पंडवानी -
छत्तीसगढ़ के मैदानी भाग में पंडवानी, नाचा, और रहस नाट्य रूप विद्यमान हैं। पंडवानी शब्द पांडव वाणी अर्थात पांडव कथा से बना है। पंडवानी का वर्तमान स्वरूप धीरे-धीरे कई दौर की यात्रा के पश्चात विकसित हुआ है आरम्भ में पंडवानी गोंड परधानों द्वारा गई जाने वाली एक लम्बी गाथा के रूप में प्रचलित थी। गोंड प्रधान गोंड जनजाति के भात या या मीरासियों के सामान ही एक जाति है जो कभी गोंड जन जाति का ही अंग रही होगी। परधान गाथा गायक, तीन प्रमुख गाथाएँ गाते हैं: पंडवानी, गोंडवानी, रामायणी। एक अन्य गाथा कराम्सिनी का भी उल्लेख मिलता है, परन्तु वह गाथा विलुप्त हो गयी है। करमा की कथा, करमा नृत्य एवं गीत तो बचे हुए हैं, परन्तु गाथा विलुप्त हो चुकी है। पंडवानी में पांडव कथा अर्थात महाभारत की कथा, रामायणी में रामायण की कथा और गोंडवानी में गोंड राजाओं एवं उनके पूर्वजों की कथा समाविष्ट है। परधान इन गाथाओं को सारंगी बजा कर गाते थे। फसल कट कर कोठार में पहुँचने के बाद दूर दूर तक फैले अपने जजमानो के यहाँ लंबी यात्राओं पर निकलते हैं। गाथाएँ गा कर एवं अपनी वंशावली का बखान करके वे अपने जजमानों से भेंट में अन्न वस्त्र एवं नकद धन राशि प्राप्त करते हैं।

नाचा –

छत्तीसगढ़ के रायपुर, धमतरी, महासमुंद, दुर्ग, राजनांदगाँव आदि जिलों में नाचा व्यापक रूप से प्रचलित है। नाचा अपने आप में एक पूर्ण विद्या है नाचा का उद्भव खड़े साज़ की गम्मत से हुआ है जो मराठा छावनियों में सैनिकों के मनोरंजन का साधन थी। मराठी के तमाशा एवं छत्तीसगढी के नचा दोनों का ही उद्भव मराठा छावनियों कि गम्मत से हुआ है। तमाशा ने महाराष्ट्र की लोक परम्पराओं को अपना कर, अपने नाट्य स्वरूप का विकास किया है, तो वहीँ दूसारी ओर नाचा ने छत्तीसगढ़ क्षेत्र की लोक परम्पराओं को अपना कर अपने नृत्य स्वरूप का विकास किया। उड़ीसा पर आक्रमण करने जब नाट्य सेना जा रही थी तब मार्ग में पडने वाली छत्तीसगढ़ की राजधानी रतनपुर को भी उसने अपने आधीन कर लिया। मराठों ने अपने प्रशासन हेतु छत्तीसगढ़ में दो स्थानों पर अपने अधिकारी नियुक्त किये। एक बिलासपुर एवं दूसरा रायपुर में।

1. मराठों की सेना के मनोरंजन हेतु कुछ गम्मतिये भी हुआ करते थे, जो नाचने गाने के साथ ही कुछ हलके फुलके हास्य प्रधान प्रहसन भी प्रस्तुत किया करते थे। ये सभी गम्मातिये पुरुष होते थे और वे स्त्रियों के अभिनय हेतु साड़ी का पल्ला सिर पर डाल कर उनकी नाटकीय नकल उतारते थे। गम्मत में स्त्रियों की नक़ल करने वाला एक विशेष पात्र होता था जिसे नाच्या कहते थे। इसी पात्र के आधार पर छत्तीसगढ़ी नाट्य स्वरूप का नाम 'नाचा' पड़ा।''नाच्या'' मराठी तमाशे के एक अन्य पात्र सोंगाड्या से भिन्न है। वर्तमान में भी तमाशा में नाच्या और सोंगाड्या के समानांतर एक नए पात्र का उद्भव हुआ जो जोक्कड़ कहलाता है। आरंभ में तमाशा और नाच्या दोनों में ही पुरुष कलाकार ही स्त्री पात्रों का भी अभिनय करते थे कालांतर में मराठी तमाशा में स्त्री पात्रों का अभिनय करने हेतु कोल्हाटी जाति की लडकियाँ तमाशा में सम्मिलित हुईं, वहीं छत्तीसगढ़ी नाचा में देवार जाति की लडकियाँ सम्मिलित हुईं। कोल्हाटी एक प्राचीन जाति है, जो नटों की भांति करतब प्रदर्शित करके आजीविका चलाती है। इनमें नटों जैसी तीव्र गति एवं शारीरिक लोच के कारण तमाशा के नृत्य अत्यधिक तीव्रगति लिए हुए है। देवार बालाएँ गायन में अधिक कुशल हैं। दोनों ही जातियाँ परंपरागत रूप से नाचने गाने एवं करतब आदि प्रदर्शन करती रही हैं। इसलिए नाट्य क्षेत्र से जुड कर उन्होंने इन नाट्य स्वरूपों को नए आयाम प्रदान किये और दोनों ही लोक नाट्यों को अपने योगदान से समृद्ध किया।

नाचा मूलतः हास्य प्रधान नाट्य स्वरूप हैं। चूँकि इस विधा का उद्भव गम्मत से हुआ है इसलिए हास्य प्रधान विषयों पर ही नाचा के कथानक केंद्रित हैं। गम्मत का अर्थ ही हँसी मजाक पूर्ण मनोरंजन है। नाचा के कलाकार अत्यंत प्रतिभाशाली होते हैं और वो किसी भी विषय को अपने नाटक का विषय बना कर प्रतुत्पन्न मति के जरिये नाटकीय पटकथा का खाका, नाटक के पात्रों का संवाद, गीत, नाट्य संगीत आदि क्रय आपसमे मिल बैठ कर कर लेते हैं। नाचा का मंच अधिकतर अत्यंत सामान्य होता है और नाचा के पात्रों कि वेश भूषा साधारण होने के कारण नाचा की प्रस्तुतियाँ अत्यल्प साधनों से भी संपन्न की जा सकती हैं। .

नाचा में पारी, जोक्कड़ नजरिया आदि स्थायी पात्र होते हैं। परी ना तो अंग्रेजी की फेयरी है और ना ही अलौकिक सुंदरी, जो किसी अन्य लोक से आती है। नाचा की परी एक सामान्य भोली भाली किन्तु नेक स्त्री है। जोक्कड़ और परी के संवादों को सुनकर दर्शक हँसी से लोटपोट होने लगते हैं, तो दूसरी ओर मंच पर काँसे के लोटों को सिर पर रख कर परी नृत्य करने लगती है उसके नृत्य के साथ ही सिर पर आड़ा रखा हुआ लोटा भी घूमने लगता है। परी का अभिनय भी पुरुष कलाकार ही निभाता है।

नाचा नाट्य की क्षमता और संभावना का विलक्षण उपयोग हबीब तनवीर ने किया है। संस्कृत नाटक मृच्छकटिक से लेकर शेक्सपियर और ब्रेख्त के नाटकों तक का मंचन नाचा शैली में करके नाचा को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित किया गया है। छत्तीसगढ़ के ग्रामीणों में भरपूर शिष्ट हास्य मौजूद है, जो नाचा में सहज रूप से प्रकट है। छत्तीसगढ़ के ग्रामीण बहुत अच्छे बातूनी हैं और अपनी मुहावरेदार भाषा में घंटों बातें करते रहते हैं। यह गुण नाचा के पात्रों द्वारा बोले जाने वाले संवादों में भी सहज ही प्रकट होता है। भारत के अनेक लोकनाट्य जहाँ एक ओर इलेक्ट्रोनिक मीडिया के आक्रमण से लगभग नष्ट होने के कगार पर पहुँच गए हैं। वही छत्तीसगढ़ के जनता में नाचा के प्रति आज भी गहरा आकर्षण और अनुराग बना हुआ है।

2. रहस-

कृष्ण लीला पर केंद्रित रहस् नाट्य बिलासपुर जिले एवं उसके आसपास के क्षेत्र में प्रचलित है। नाट्य वैष्णव भक्ति आंदोलन से उद्भूत इसलिए उसमे धार्मिक अनुष्ठान समाहित हैं रहस् का आयोजन एक यज्ञ की भांति किया जाता है। रहस का मंच

संचालन करने वाला रहस् पंडित कहलाता है और रहस् का आयोजन करने वाला यजमान। रहस् के आयोजन की तिथि कई माह पूर्व ही निश्चित हो जाती है। आयोजन एक बड़े समारोह की तरह होता है। सम्पूर्ण गाँव को, जिसमे रहस् का आयोजन होता है उसे ब्रज मंडल मान कर उसकी नाट्य की जाती है। गाँव में मिट्टी की बड़ी बड़ी विशाल मूर्तियाँ स्थापित की जाती हैं। किसी स्थान पर भीम की मूर्ति तो किसी स्थान पर कंस की। महाभारत के आरम्भ में अर्जुन को गीता का उपदेश देते हुए रथ पर सारथी रूप में सवार कृष्ण की भी प्रतिमा बनाई जाती है। इसके आलावा रासलीला के प्रसंगों पर आधारित प्रतिमाएँ जैसे पूतना वध, बकासुर वध, महारास आदि की प्रतिमाएँ भी बनाई जाती हैं।

कुल प्रतिमाएँ एक सौ छब्बीस तक बनाई जाती हैं। परन्तु अपने साधनों के आधार पर उनकी संख्या और आकार निश्चित किये जाते हैं। प्रतिमाएँ रहस संपन्न होने पर उन्ही स्थानों पर छोड़ दी जाती हैं। जो वर्षा एवं वायु-धूप से क्षीण होती हुई मिट्टी में मिल जाती हैं। ग्रामीण जनों के आस्था है कि इससे उनके गाँव की भूमि पवित्र हो जाती है। और उस पर किसी प्रकार की विपत्ति नहीं आ पाती।

वैष्णव भक्ति आंदोलन से प्रेरित छत्तीसगढ़ी रहस नाट्य में ग्राम में मिट्टी की मूर्तियाँ स्थापित किया जाना यह उसकी अपनी विशिष्टता है। मूर्तिया बनाने का कार्य चितेरा जाति के कलाकार करते हैं जो उड़ीसा से आकार छत्तीसगढ़ी में बसे हैं। कुछ प्रतिमाएँ मंच भी स्थापित की जाती हैं। जिनमें ब्रहमा, गरुड़, हनुमान आदि की प्रतिमाएँ सम्मिलित हैं। मंच के बीचों बीच एक स्तंभ बनाया जाता है जो कदम के वृक्ष का प्रतीक होता है। इस स्तंभ की परिक्रमा करते हुए ही नाट्य प्रस्तुतियाँ होती हैं आगे आगे कलाकार अभिनय करते हुए चलते हैं और पीछे पीछे संगत, वाद्यों को गले में लटकाए हुए चलती है। रहस् का कथानक रतनपुर के प्रसिद्ध साहित्यकार बाबू रेवाराम ने तैयार किया था। जिसे रहस् गुटका कहा जाता है। वह हस्त लिखित गुटका सभी रहस्धारियों के पास उपलब्ध है। इस गुटके का साहित्य वृन्दावन कि रासलीला के साहित्य पर ही आधारित है। जिसमे सूरदास एवं अष्टछाप के कवियों कि कवियों कि रचनाओं को सम्मिलित किया गया है।

रहसलीला रात्रि नौ बजे आरम्भ होती है और प्रातः काल तक चलती है रहस के प्रसंगों के बीच बीच में गम्मतिये भी छोटे छोटे मनोरंजक प्रसंग प्रस्तुत करते हैं। जोक्कड़ परी का खेल आदि

प्रस्तुत किये जाते हैं। रहस् एवं गम्मत के सभी कलाकार पुरुष होते हैं और वे हे स्त्री के ही पात्रों का भी अभिनय करते हैं। लीला के कुछ प्रसंग गाँव के भिन्न भिन्न स्थलों पर भी आयोजित होते हैं। जैसे कंस वध गाँव की चौपाल पर या मालगुजार या यजमान के घर के सामने, कालिया मर्दन लीला गाँव के बड़े तालाब पर होती है जहाँ एक नाव पर कालिया नाग की प्रतिमा बनायीं जाती है।कृष्ण अपने बाल साखों के साथ दूसरी नाव पर बैठ कर जाते हैं और उसे नाथ कर वश में करते हैं। रहस् का आयोजन आठ दिन, इक्कीस दिन या एक माह का होता है।यह आयोजन काफी खर्चीला होता है। इसीलिए इसे आयोजित करना सबके बसकी बात नहीं है। पूर्व में गाँव के मालगुजार या धनी कृषक इस आयोजन के यजमान बन जाते थे और सभी ग्रामीण अपनी यथाशक्ति उसमे सहयोग प्रदान करते थे। आजकल दो चार वर्षों में एक आध बार रहस् के आयोजन की खबर मिलती है।

नौटंकी

नौटंकी उत्तर भारत, के एक लोक नृत्य और नाटक शैली का नाम है। यह भारतीय उपमहाद्वीप में प्राचीनकाल से चली आ रही स्वांग परम्परा की वंशज है । नौटंकी और स्वांग में सबसे बड़ा अंतर यह माना जाता है कि जहाँ स्वांग ज़्यादातर धार्मिक विषयों से ताल्लोक रखता है और उसे थोड़ी गंभीरता से प्रदर्शित किया जाता है वहाँ नौटंकी के मौज़ू प्रेम और वीर-रस पर आधारित होते हैं और उनमें व्यंग्य और तंज़ मिश्रित किये जाते हैं। पंजाब से शुरू होकर नौटंकी की शैली तेज़ी से लोकप्रीय होकर पूरे उत्तर भारत में फैल गई।

इतिहास और विकास

अधिकतर समीक्षकों का मानना है कि 'नौटंकी स्वांग शैली का ही एक विकसित रूप है'।[4] नौटंकी कि कथाएँ अक्सर किसी व्यक्ति पर या महत्वपूर्ण विषय पर होती हैं, मसलन आल्हा-ऊदल की नौटंकी। इसी तरह, 'सुल्ताना डाकू' की नौटंकी इसी नाम के उत्तर प्रदेश के बिजनौर ज़िले में हुए एक डाकू की कहानी बताती है। भारत के स्वतंत्रता संग्राम के दौरान उस विषय पर बहुत सी नौटंकियां हुईं थी जिन्होनें जन-साधारण को इस संग्राम में शामिल होने की प्रेरणा दी। आजकल दहेज़-कुप्रथा, आतंकवाद और साम्प्रदायिक लड़ाई-झगड़ों के विरुद्ध नौटंकियाँ देखी जा सकती हैं।[1] दर्शकों की रूचि बनाए रखने के लिए नौटंकियों में अक्सर प्रेम-सम्बन्ध के भी कुछ तत्व होते हैं जिनका प्रयोग अश्लीलता के लिए भी किया जा सकता है। इसलिए बहुत सी अश्लील नौटंकियाँ भी डेढ़-सौ साल से चलती आ रहीं हैं, जिस से अक्सर नौटंकी की शैली बदनाम भी होती आई है।[1] पारम्परिक रूप से नौटंकियों में पैसा बनाने के लिए यह ज़रूरी था कि दर्शकों को कभी भी ऊबने न दिया जाए, इसलिए अधिकतर नौटंकियों में १० मिनट या उस से कम अवधि की घटनाओं को एक सिलसिले में जोड़कर बनाया जाता है जिसमें हर भाग में दर्शकों की रूचि बनाए रखने की कोशिश की जाती है। कहानी दिलचस्प रखने के लिए वीरता, प्रेम, मज़ाक़, गाने-नाचने और धर्म को मिलाया जाता है और कथाकार प्रयास करता है की दर्शकों की भावनाएँ लगातार ऊपर-नीचे हों और बदलती रहें।

कविता

नौटंकी में कविता और साधारण बोलचाल को मिलाने की प्रथा शुरू से रही है। पात्र आपस में बातें करते हैं लेकिन गहरी भावनाओं और संदेशों को अक्सर तुकबंदी के ज़रिये प्रकट किया जाता है। गाने में सारंगी, तबले, हारमोनियम और नगाड़े जैसे वाद्य इस्तेमाल होते हैं।[5]

मिसाल के लिए 'सुल्ताना डाकू' के एक रूप में सुल्ताना अपनी प्रेमिका को समझाता है कि वह ग़रीबों की सहायता करने के लिए पैदा हुआ है और इसीलिए अमीरों को लूटता है।[6] उसकी प्रेमिका (नील कँवल) कहती है कि उसे सुल्ताना की वीरता पर नाज़ है (इसमें रूहेलखंड की कुछ खड़ी-बोली है):

सुल्ताना

प्यारी कंगाल किस को समझती है तू?

कोई मुझ सा दबंगर न रश्क-ए-कमर

जब हो ख़्वाहिश मुझे लाऊँ दम-भर में तब

क्योंकि मेरी दौलत जमा है अमीरों के घर

नील कँवल

आफ़रीन, आफ़रीन, उस ख़ुदा के लिए

जिसने ऐसे बहादुर बनाए हो तुम

मेरी क़िस्मत को भी आफ़रीन, आफ़रीन

जिस से सरताज मेरे कहाए हो तुम

सुल्ताना

पा के ज़र जो न ख़ैरात कौड़ी करे

उन का दुश्मन ख़ुदा ने बनाया हूँ मैं

जिन ग़रीबों का ग़मख़्वार कोई नहीं

उन का ग़मख़्वार पैदा हो आया हूँ मैं

सुल्ताना

प्यारी कंगाल किस को समझती है तू?

कोई मुझ-सा दबंग नहीं

जब मेरी मर्ज़ी हो एक सांस में ला सकता हूँ

क्योंकि अमीरों की दौलत पर मेरा ही हक़ है

नील कँवल

वाह, वाह, उस ख़ुदा के लिए

जिसने ऐसे बहादुर बनाए हो तुम

मेरी क़िस्मत को भी वाह, वाह

जिस से सरताज मेरे कहाए हो तुम

सुल्ताना

पा के सोना जो कौड़ी भी न दान करे

ख़ुदा ने मुझे उनका दुश्मन बनाया है

जिन ग़रीबों का दर्द बांटने वाला कोई नहीं

उन का दर्द हटाने वाला बनकर मैं पैदा हुआ हूँ

राम लीला

रामलीला उत्तरी भारत में परम्परागत रूप से खेला जाने वाला राम के चरित पर आधारित नाटक है। यह प्रायः विजयादशमी के अवसर पर खेला जाता है।

इतिहास

समुद्र से लेकर हिमाचल तक प्रख्यात रामलीला का आदि प्रवर्तक कौन है, यह विवादास्पद प्रश्न है। भावुक भक्तों की दृष्टि में यह अनादि है। एक किंवदंति का संकेत है कि त्रेता युग में श्री रामचंद्र के वनगमनोपरांत अयोध्यावासियों ने चौदह वर्ष की वियोगावधि राम की बाल लीलाओं का अभिनय कर बिताई थी। तभी से इसकी परंपरा का प्रचलन हुआ। एक अन्य जनश्रुति से यह प्रमाणित होता है कि इसके आदि प्रवर्तक मेघा भगत थे जो काशी के कतुआपुर महल्ले में स्थित फुटहे हनुमान के निकट के निवासी माने जाते हैं। एक बार पुरुषोत्तम रामचंद्र जी ने इन्हें स्वप्न में दर्शन देकर लीला करने का आदेश दिया ताकि भक्त जनों को भगवान के चाक्षुष दर्शन हो सकें। इससे सत्प्रेरणा पाकर इन्होंने रामलीला संपन्न कराई। तत्परिणामस्वरूप ठीक भरत मिलाप के मंगल अवसर पर आराध्य देव ने अपनी झलक देकर इनकी कामना पूर्ण की। कुछ लोगों के मतानुसार रामलीला की अभिनय परंपरा के प्रतिष्ठापक गोस्वामी तुलसीदास हैं, इन्होंने हिंदी में जन मनोरंजनकारी नाटकों का अभाव पाकर इसका श्रीगणेश किया। इनकी प्रेरणा से अयोध्या और काशी के तुलसी घाट पर प्रथम बार रामलीला हुई थी।

रामलीला के प्रकार

रंगमंचीय दृष्टि से रामलीला तीन प्रकार की हैं - सचल लीला, अचल लीला तथा स्टेज़ लीला। काशी नगरी के चार स्थानों में अचल लीलाएँ होती हैं। गो. तुलसीदास द्वारा स्थापित रंगमंच की कई विशेषताओं में से एक यह भी है कि स्वाभाविकता, प्रभावोत्पादकता और मनोहरता की सृष्टि के लिए, अयोध्या, जनकपुर, चित्रकूट, लंका आदि अलग-अलग स्थान बना दिए गए थे और एक स्थान पर उसी से संबंधित सब लीलाएँ दिखाई जाती थीं। यह ज्ञातव्य है कि रंगशाला खुली होती थी और पात्रों को संवाद जोड़ने घटाने में स्वतंत्रता थी। इस तरह हिंदी रंगमंच की प्रतिष्ठा का श्रेय गो. तुलसीदास को और इनके कार्यक्षेत्र काशी को प्राप्त है।

रामलीला में नृत्य, संगीत की प्रधानता नहीं होती क्योंकि चरितनायक गंभीर, वीर, धीर, शालीन एवं मर्यादाप्रिय पुरुषोत्तम हैं। परिणामस्वरूप वातावरण में विशेष प्रकार की गंभीरता विराजती रहती है। इस लीला की पहले मंडली नहीं होती थी अब कुछ पेशेवर लोग मंडलियाँ बनाकर लीलाभिनय से अर्थोपार्जन करते हैं। को भ्रमित करने वालों के विरुद्ध एक अभियान की तरह कार्य आरम्भ कर आस-पास के क्षेत्रों में ख्याति प्राप्त की है। यह संस्था "रामलीला" शब्द का प्रयोग न कर **रामायण मंचन** के नाम से प्रस्तुति देती है, ताकि इसमें अच्छे कुलीन

घर के लोग, स्त्री एवं पुरुष, दूरदर्शन व सिने कलाकार भी सम्मिलित होकर यह पुनीत कार्य कर सके। इसमें ६० कलाकार भाग लेते हैं। गायक मंडली के साथ प्रकाश एवं ध्वनि की व्यवस्था साथ लिए सोनपुर के मेले में भी विगत दो वर्षों से मेले में आकर्षण के केंद्र बने।

लोकनायक राम की लीला भारत के अनेक क्षेत्रों में होती है। भारत के बाहर के भूखंडों जैसे बाली, जावा, श्री लंका आदि में प्राचीन काल से यह किसी न किसी रूप में प्रचलित रही है। जिस तरह श्रीकृष्ण की रासलीला का प्रधान केंद्र उनकी लीलाभूमि वृंदावन है उसी तरह रामलीला का स्थल है काशी और अयोध्या। मिथिला, मथुरा, आगरा, अलीगढ़, एटा, इटावा, कानपुर, काशी आदि नगरों या क्षेत्रों में आश्विन माह में अवश्य ही आयोजित होती है लेकिन एक साथ जितनी लीलाएँ नटराज की क्रीड़ाभूमि वाराणसी में होती है उतनी भारत में अन्यत्र कहीं नहीं।

भारत के प्रमुख लोक नृत्य तथा लोक नाट्य शैलियाँ

१. 澫 बिहू नृत्य –澫

澖 इस नृत्य का प्रचालन पुवोरत्तार भारत के असम राज्य में है, इसका प्राचीन रूप आरण्यक नृत्यो कि परम्परा से जुड़ा हुआ है | असम की कछारी जनजातियों में प्रचलित यह नृत्य वर्ष में तीन बार आयोजित किया जाता है |

२. 澫 गरबा –澫

澖 यह गुजरात राज्य में प्रचलित स्त्रियों का सबसे महत्वपूर्ण लोक नृत्य है जोकि नवरात्रि के अवसर पर आयोजित किया जाता है इसका उद्देश्य देवी दुर्गा कि आराधना करना होता है |

३. 澫 भांगड़ा – 澫

澖 यह पंजाब राज्य में प्रचलित अत्यन्त लोकप्रिय नृत्य है, जिसे वहाँ के पुरुषों द्वारा किया जाता है |

४. 澫 घुमर – 澫

澝 यह राजस्थान में प्रचलित सर्वप्रमुख लोक नृत्य है जिसे केवल स्त्रियां करती है | तीज, त्योहारों, होली, दुर्गा पूजा एवं विभिन्न देवियों कि पूजा के अवसर पर यह नृत्य आयोजित किया जाता है |

५. 澝 पण्डवानी –澝

澝 यह मध्य प्रदेश के छतीसगढ क्षेत्र में प्रचलित एकल लोक नृत्य है, जिसका प्रस्तुतीकरण समवेत स्वरों में होता है |

६. 澝 नौटंकी – 澝

澝 यह उत्तर प्रदेश का लोकप्रिय प्रतिनिधि लोक नाट्य है | इसमें अभिनय और गायकी का अनुपम संगम देखने को मिलता है | इसमें दोहा, सोहिनी, हरि गीतिका, छन्द, लावनी, वीर, कव्वाली, गजल, दादरा, ठुमरी आदि का प्रयोग किया जाता है |

७. 澝 यक्षगान –澝

澝 यक्षगान कर्नाटक की नृत्य नाटिका है | ग्रामीण परम्परा पर आधारित इस नृत्य का विषय पौराणिक होता है |

८. 澝 कालबेलिया –澝

澝 यह नृत्य राजस्थान की कालबेलिया जनजाति की स्त्रियों का नृत्य है | कालबेलिया पेशे से सपेरे होते है | कालबेलिया स्तरीय पुंगी पर इडोनो और गीत के सहारे नृत्य करती हैं |

९. 澝 तमाशा –澝

澝 यह महाराष्ट्र की नृत्य नाटिका है | बंशीधर भट्ट को इसे विकसित करने का श्रेय प्राप्त है |

澝吹 प्रमुख शास्त्रीय नृत्य 吹澝

१. 澝 कत्थक – 澝

澝 कत्थक मूलतः उत्तरभारत का शास्त्रीय नृत्य है | इसका आधार हिंदू परम्परा में है, जिसको सरंक्षण देने का श्रेय कुछ मुस्लिम शासको को भी है, इस सन्दर्भ में अवध के नवाबा वाजिद अली शाह का नाम उल्लेखनीय है |

२. 澝 भरत नाट्यम –澝

澝 भरत नाट्यम तमिलनाडु का प्रमुख शास्त्रीय नृत्य है | प्रचलित कथानक के अनुसार शिवजी की अर्धांगिनी शक्ति अर्थात गौरी ने एक लाख श्लोको का 'गौरिकथक' लिखा था | इस ग्रन्थ के अधर पर सारंगदेव ने 'महाभारत सदामुनी' नमक नाट्य ग्रन्थ लिया |

३. 澝 कथकली –澝

 यह केरल राज्य का प्रसिद्ध शास्त्रीय नृत्य है | परम्परा से यह नृत्य केरल की योद्धा जनजाति नायर में प्रचलित रहा है |

४. कुचिपुड़ी –

 यह नृत्य मूलतः आंध्र प्रदेश से सम्बंधित है | यह एक समय सिर्फ मंदिरों के प्रांगण से सम्बन्ध था और पुरुष ही इस नृत्य को करते थे | 'कुचिपुड़ी' नमक गांव के नाम पर ही इस नृत्य का नाम कुचिपुड़ी पड़ा |

५. ओडिसी –

 यह उडीसा का प्राचीन नृत्य है | यह नृत्य भी देवदासी परम्परा से अनुग्रनित रहा है | ओडिसी का प्रचितम प्रमाण हाथीगुम्फा अभिलेख से प्राप्त होता है |

६. मणिपुरी -

 इस शास्त्रीय नृत्य का मूलाधार मणिपुर का प्राचीन जनजातीय नृत्य है लेकिन वैष्णव धर्म की विषय वस्तु का अवलम्बन लेकर यह नृत्य शास्त्रीय परम्परा के रंग मे रंग गया |

७. मोहिनी अट्टम –

 यह केरल से सम्बंधित है | यदपि इसकी गणना पूर्व शास्त्रीय नृत्यो में नहीं की जाती, तथापि यह शास्त्रीय परम्परा से अवश्य ही सम्बन्ध प्रतीत होता है | यह वैष्णव भक्त परम्परा से अनुप्राणित नृत्य है जिसकी चर्चा व्यवहार माला नमक ग्रन्थ से मिलती है |

प्रदर्शन कला

संगीत

भारतीय संगीत का प्रारंभ वैदिक काल से भी पूर्व का है। पंडित शारंगदेव कृत "संगीत रत्नाकर" ग्रंथ मे भारतीय संगीत की परिभाषा "गीतम,वादयम् तथा नृत्यं त्रयम संगीत मुच्यते" कहा गया है।गायन, वाद्य वादन एवम् नृत्य; तीनों कलाओं का समावेश संगीत शब्द में मानागया है।तीनो स्वतंत्र कला होते हुए भी एक दूसरे की पूरक है।भारतीय संगीत की दो प्रकार प्रचलित है; प्रथम कर्नाटक संगीत, जो दक्षिण भारतीय राज्यों में प्रचलित है और हिन्दुस्तानी संगीत शेष भारत में लोकप्रिय है। भारतवर्ष की सारी सभ्यताओं में संगीत का बड़ा महत्व रहा है। धार्मिक एवं सामाजिक परंपराओं में संगीत का प्रचलन प्राचीन काल से

रहा है।इस रूप में, संगीत भारतीय संस्कृति की आत्मा मानी जाती है। वैदिक काल में अध्यात्मिक संगीत को मार्गी तथा लोक संगीत को देशी कहा जाता था! कालांतर में यही शास्त्रीय और लोक संगीत के रूप में दिखता है।(संगीतेश)

भारतीय संगीत में विभिन्न प्रकार के धार्मिक, लोक, लोकप्रिय, पॉप और शास्त्रीय संगीत शामिल हैं भारतीय संगीत का सबसे पुराना संरक्षित उदाहरण है सामवेद की कुछ धुनें जो आज भी निश्चित वैदिक श्रोता बलिदान में गाई जाती है भारतीय शास्त्रीय संगीत की परंपरा हिंदू ग्रंथों से काफी प्रभावित है। इसमें कर्नाटक और हिन्दुस्तानी संगीत और कई राग शामिल हैं . ये कई युगों के दौरान विकसित हुआ और इसका इतिहास एक सहस्राब्दी तक फैला हुआ है। यह हमेशा से धार्मिक प्रेरणा, सांस्कृतिक अभिव्यक्ति और शुद्ध मनोरंजन का साधन रहा है विशिष्ठ उपमहाद्वीप रूपों के साथ ही इसमें अन्य प्रकार के ओरिएंटल संगीत से भी कुछ समानताएं हैं'

लोक संस्कृति एवं लोक जीवन का अभिन्न अंग है भोजपुरी भाषा साहित्य एवं कला

भोजपुरी, हिन्दी की एक उपभाषा अथवा बोली (डायलेक्ट्) है। इसकी भौगोलिक सीमा तीन प्रान्तों- पूर्वी उत्तर प्रदःेश, पश्चिमी बिहार और उत्तरी-पूर्वी मध्यप्रदःेश तक फैली है। यह सीमा पश्चिम में अवधी, उत्तर में नेपाली, पूर्व में मैथिली एवं मगही और दःक्षिण में छत्तीसगढ़ी बोलियों के क्षेत्र को छूती है। इस भौगोलिक/भाषायी क्षेत्र में उत्तर प्रदःेश के मीरजापुर, बनारस, जौनपुर, गाजीपुर, आजमगढ़, बलिया, बस्ती, गोरखपुर, दःेवरिया और पड़रौना से लेकर फैजाबाद के कु हिस्से; बिहार में चम्पारण, सारण (छपरा, सिवान, गोपालगंज), मुजफ्फरपुर, शाहाबादः, राँची, पलामू, आरा, बक्सर, रोहतास एवं सासाराम; और मध्यप्रदःेश/ छत्तीसगढ़ के सरगुजा एवं जसपुर के पूर्वी हिस्से आते हैं।

भोजपुरी भाषा-भाषी क्षेत्र २५ जिलों के करीब ५० हजार वर्गमील में फैला है और इस भाषा को बोलने वाले आज १० करोड़ से भी अधिक लोग हैं।[१] यह भाषा इस क्षेत्र के लोगों के साथ दःेश-विदःेश के विभिन्न भागों में भी फैली है।

कु वे भारतीय, जिनके पूर्वज दःूर के दःेशों, जैसे-नेपाल, मॉरिशस, सूरीनाम, गुयाना, युगांडा, बैंकांक, रंगून, सिंगापुर, फीजी आदि दःेशों में जाकर बस गये, वे भी किसी न किसी रूप में भोजपुरी को जीवित रखे हुए हैं। इस तरह भोजपुरी का क्षेत्र व्यापक है। कुछ लोगों की यह धारणा रही है कि मॉरिशस में एकमात्र ""क्रियोल" में ही लोक साहित्य

विद्यमान है, लेकिन नहीं, वहाँ लोक साहित्य भोजपुरी में भी है[२] और काफी विकसित है। क्रियोल और भोजपुरी अलग-अलग हैं। मोका स्थित महात्मा गाँधी संस्थान ने १९७६-७७ में मौखिक रूप से प्रवाहमान भोजपुरी लोक साहित्य को सुरक्षित करने के उद्देश्य से एक ""डाक्यूमेन्ट्रेशन सेन्ट्र" की स्थापना की थी, जहाँ लोक-कथाओं, गीतों, कहावतों, मुहावरों, पहेलियों आदि के संकलन का कार्य प्रारम्भ हुआ था। लोक साहित्य के अध्ययन एवं अनुसंधान की दिशा में वहाँ यह प्रथम प्रयास नहीं था, बल्कि इस संस्था की स्थापना के बहुत पहले ही (स्व.) डॉ. रामेश्वर ओर ने अपने शोध-प्रबन्ध ""मॉरिशस की भोजपुरी" में भोजपुरी भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया था। मॉरिशस की भोजपुरी में और भी कार्य हुए हैं। भारतीय विश्वविद्यालयों से जुड़कर भी मॉरिशसवासी भोजपुरी में कार्य करते र हैं। इसी प्रकार भारतीय शोधार्थियों ने मॉरिशस में जाकर भोजपुरी में कार्य किया है। आज भारतीय भोजपुरी के साथ अन्य देशों के भोजपुरी के तुलनात्मक अध्ययन की भी आवश्यकता है।

भोजपुरी प्रदेश का अधिकांश भू-भाग मैदानी है। इसमें गंगा, गंडक, गोमती, सोन, घाघरा, कोसी आदि छोटी-बड़ी कई नदियों का प्रवाह है, जो इस क्षेत्र को हरा-भरा बनाये रखती हैं। सारण एवं चम्पारण नाम तो आरण्य से ही उद्भूत हैं, जो यह इंगित करते कि यह क्षेत्र अत्यन्त प्राचीन काल से ही जंगलों एवं वनौषधियों से अच्छादित रहा है और यहाँ नाना प्रकार के जीव-जन्तुओं और पशु-पक्षियों का वास रहा है। यहाँ तीनों मौसम और छहों ऋतुओं के समान चक्र से पूरा वातावरण काफी सुहावना बना रहता है। ऐसे परिवेश में स्वाभाविक रूप से कृषि एवं पशु-पालन यहाँ के लोगों की जीविका के प्रधान साधन र हैं। इस क्षेत्र में प्रायः हर प्रकार के अन्न और दलहन एवं तिलहन की पैदावार होती है। बिहार एवं उत्तर प्रदेश के उत्तरी भाग में बड़े पैमाने पर गन्ने की खेती होती है, इसीलिए इस क्षेत्र में गुड़, खाण्डसारी एवं चीनी के कारखाने थोड़ी-थोड़ी दूर पर ही दिखाई पड़ते हैं। आरण्यक क्षेत्र होने की वजह से इस भू-भाग में अनेक सुप्रसिद्ध ऋषियों-मुनियों का भी वास रहा, जैसे आरा में महर्षि विश्वामित्र का, तो सारण में गौतम मुनि का आश्रम रहा।

पूरा भोजपुरी क्षेत्र शौर्य, पराक्रम एवं मस्ती के लिए प्रसिद्ध है। सुप्रसिद्ध लोक-साहित्य "लोरिकायन', जिस लोरिकदेव की वीरता का आख्यान सुनाता है, वह बलिया-छपरा के द्वेाब के ही रहने वाले थे। इसका उल्लेख आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यास "बाणभट्ट की आत्मकथा' में भी हुआ है। भोजपुरी क्षेत्र के लोग धर्मभी तो बहुत हैं, किन्तु

साथ ही अत्यन्त कर्मठ और स्वाभिमानी भी हैं। अपने परिश्रमी होने की पहचान इन लोगों ने मॉरिशस, फिजी, ट्रिनीडाड, सूरीनाम आदि दःेशों में भी जाकर करायी है। अपनी भाषा, संस्कृति और मिट्ट्ी से इन्हें काफी प्रेम है, इसीलिए मॉरिशस, फिजी आदि दःेशों में रहकर भी भोजपूरिया लोगों ने अपनी इस भाषा व संस्कृति को हमेशा जीवन्त बनाये रखा। भोजपुरीवासियों की वीरता के अनेक मिसाल उपलब्ध हैं। ब्रिट्शि काल में १८५७ के विद्रोह का नेतृत्व इसी क्षेत्र के बलिया जनपदः ने किया था, १९४२ की क्रान्ति में भी इस क्षेत्र की अहम भूमिका रही थी। स्वतंत्रता संग्राम के प्रमुख नेता और प्रथम राष्टर्ँ??ति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद इसी क्षेत्र (सिवान) के रहने वाले थे, जो राष्टर्ँ??ति भवन में भी ठेंठ गंवई अंदःाज में रहते थे और भोजपुरी में खुलकर बातें करते थे। सम्पूर्ण क्रान्ति के पुरोधा लोकनायक जयप्रकाश नारायण, सुप्रसिद्ध सर्वोदःयी नेता बाबा राघवदःास और सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ. सम्पूर्णानन्द भी इसी भोजपुरी भाषी क्षेत्र के थे। गाँधी जी ने अपने स्वतंत्रता आन्दःोलन को एक नयी धार दःेने के लिए इसी भोजपुरी प्रदःेश के चम्पारण क्षेत्र को चुना था। भोजपुरी के ख्यातिलब्ध नाट्ककार, विदःेशिया नाट्क मंडली के संस्थापक स्व. भिखारी ठाकुर छपरा के ही रहने वाले थे।

भोजपुरी लोक-संस्कृति के सभी तत्व, खान-पान, वेश-भूषा, रहन-सहन, तीर्थ-त, धर्म-कर्म, मनोरंजन, कला-प्रेम, खेती-बारी, पशु-पालन आदि यहाँ की भाषा-बोली; यथा -कहावतों, मुहावरों, पहेलियों, गीतों, विभिन्न पदः-बन्धों और ठेठ शब्दःोंं में पूरी तरह परिलक्षित हैं। भोजपुरीवासियों में धर्मभीरूता और अशिक्षा की अधिकता के कारण इस क्षेत्र में लोक-विश्वास एवं रूढ़ियाँ भी काफी दिखाई दःेंगी। यहाँ भूत-प्रेत, जादः-टोना, तंत्र-मंत्र, शकुन-अपशकुन, दिशा-शूल, शुभ-अशुभ, तिथि-नक्षत्र आदि की मान्यताओं के विश्वासी भी बहुत मिलेंगे। इस क्षेत्र के प्रायः हर गाँव में एक ब्रह्मस्थान पाया जाता है, जहाँ गाँववासी कोई भी नया अथवा मांगलिक कार्य करने से पहले अनुष्ठान/पूजा-पाठ अथवा मनौती अवश्य करते हैं।

भोजपुरी क्षेत्र में मनोरंजन के प्रमुख साधन कुश्ती, दःंगल, नाच, नौट्ंकी आदि र हैं, जहाँ ग्रामीणों की भारी भीड़ उमड़ती रही है। विदःेशिया नाट्क मंडली क्षेत्र में घूम-घूमकर नृत्य-नाट्किाओं का प्रदःर्शन किया करती थी। अहीर जाति के लोगों का नगाड़े की धुन पर फर्री का नृत्य और चमार जाति के लोगों का हुड़ुक नृत्य भी प्रसिद्ध रहा है।

भोजपुरी लोक-साहित्य एवं संस्कृति' में भोजपुरी भाषा-भाषी प्रदःेश के उपरोक्त सभी सांस्कृतिक तत्वों पर कहावतों, मुहावरों, पहेलियों, बच्चों के खेल-गीत, लोकोक्तियों, लोकगीतों, ठेठ ग्रामीण शब्दःोंं आदि के माध्यम से प्रकाश पड़ा है। इसमें ग्रामीणजनों की भाषा-बोली को ज्यों का त्यों प्रस्तुत किया गया है। इस संकलन में ऐसे शब्द भी मिलेंगे, जिन् शिक्षित लोग अप-शब्दःोंं की श्रेणी में रखते हैं, किन्तु ग्रामीण जीवन में जो कुछ् वास्तविक एवं यथार्थ है, चा वह सभ्यता की श्रेणी में हो अथवा असभ्यता की श्रेणी में, उनपर इन संकलनों के माध्यम से एक जर्रूरी प्रकाश पड़ा है। इसके बिना ग्रामीण जीवन की पूरी तस्वीर सामने नहीं आ सकती।

लोक-संस्कृति लोक-जीवन का अविभाज्य अंग है और उसे लोक-साहित्य के माध्यम से भी काफी कु समझा जा सकता है यह संस्कृति सनातन से स्वतः ढ्लती, बनती और बिगड़ती चली आयी है। उसमें लोक-जीवन के नाना अनुभवों के सार समाये हुए हैं, जिसे किसी शिष्ट/शास्त्रीय साहित्य में नहीं पाया जा सकता। लोक-साहित्य लोक-जीवन का दःपंण है, जिसमें वह सब कुछ् दिखाई दःेगा, जिसे हम लोक में दःेखना चाहते अथवा लोक में जो कुछ् व्याप्त है।

लेकिन आधुनिकता के साथ तेजी से हो र संक्रमण के वर्तमान दःौर में जैसे-जैसे लोक-जीवन का रंग-ढ्ंग बदःलते जा रहा है, वैसे-वैसे लोक-संस्कृति एवं लोक साहित्य का स्वर्रूप भी क्रमशः बदःलते जा रहा है। प्रस्तुत संकलन में ऐसी तमाम बातें मिलेंगी, जो भोजपुरी क्षेत्र के अनेक हिस्सों में अब या तो लुप्त हो चुकी या लुप्त होने के कागार पर हैं। जैसे बच्चों के खेल-गीत के अन्तर्गत संकलित बहुत से गीत अब अतीत या इतिहास की बातें हो चुकी हैं, यद्यपि चालीस वर्ष से अधिक आयु वाले लोग उन् याद कर आज भी अतीत की सुखदः अनुभूतियों से भर जाते हैं। फिर भी इन सामग्रियों का संकलन व संरक्षण अतीत को जानने और उससे प्रेरणा लेने में काफी सहायक, उपयोगी तथा रोचक सिद्ध होगा।

प्रस्तुत संग्रह की सम्पूर्ण सामग्री प्रस्तुतकर्त्ता के व्यक्तिगत खोज-संकलनों पर आधारित है। इसका संग्रह वर्ष १९८३ से १९८८ के बीच किया गया था। अधिकांश सामग्री बिहार के गोपलगंज, छपरा एवं सिवान जिलों के ग्रामीण आंचलों की महिलाओं, पुरुँषों एवं बच्चों से प्राप्त ई हैं। बहुत सी सामग्रियों मिथिलांचल के मुजफ्फरपुर, मगही से प्रभावित सोनपुर एवं आरा, बक्सर, दःेवरिया, बनारस आदि क्षेत्रों के लोगों से बातचीत के क्रम में एकत्र ई हैं, जिन पर स्वाभाविक रूप से भाषायीय क्षेत्रीयता का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होगा। कु

पदःबन्ध पू कर नो किये गये थे, किन्तु कहावतों, मुहावरों और ठेठ ग्रामीण शब्दःोें को व्यवहार में आते हुए सुनकर नो किया गया। कहीं पंचायत हो रही है, कहीं झगड़ा हो रहा है, कहीं गीत-मंगल हो र हैं, कहीं यूँ ही कु लोगों की बैठकी लगी है, कहीं श्रमिक काम कर र हैं, ऐसे जगहों पर चुपचाप बैठकर उच्चरित वाक्यों, शब्दःोें व पदःबन्धों पर ध्यान दिया गया और जो मकसद की चीज मिलती गई, उसे चुपचाप कागजों पर उतारा गया। नाते-रिश्तेदःारी में कई बार औरतों के समीप दःेर रात तक बैठकर काम की चीजें नो की गईं। ग्रामीण क्षेत्रों में महिलायें प्रायः सबसे अंत में भोजन करती हैं, कभी-कभी उन् दःुबारा भोजन भी बनाना पड़ता है, इस वजह से वह दःेर तक जगी रहती हैं। सामग्रियों के लिए इन अवसरों का भी लाभ उठाया गया। सामग्रियों के खोज-संकलन क्रम में प्रस्तुतकर्त्ता को एक विशेष अनुभव यह हुआ कि लोक साहित्य का (मुख्यतः कहावतों, मुहावरों एवं पहेलियों का) जितना विपुल भण्डार महिलाओं के पास है, उतना पुरुँषों के पास नहीं। इस संकलन की ऐसी अधिकांश सामग्रियाँ महिलाओं से ही प्राप्त ई हैं।

लोक साहित्य के सन्दःर्भ में पुरुँषों की अपेक्षा महिलाओं की स्मृतियाँ काफी जागृत एवं समृद्ध पायी जाती हैं। जब वे आपस में किसी प्रसंग पर बात-चीत अथवा झगड़ा करने लगती हैं, तब उनकी वाणी में कहावतों, मुहावरों की प्रायः एक झड़ी सी लग जाती है, किन्तु संकलनकर्त्ता को यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वे जो कु नो करें, उसकी जानकारी स्रोत वक्ताओं को न होने पाये, अन्यथा वक्ताओं की वाणी का प्रवाह अवरुँद्ध होने लगेगा। किसी से पूछ्कर कहावतों, मुहावरों को तो पाया ही नहीं जा सकता, क्योंकि ये सब व्यवहार में प्रसंगात ही उपस्थित होते हैं। पूछ्ने पर वक्ता झेंप या असमंजस की स्थिति में आ जाता है और उसकी स्मृति काम नहीं करती। जितने स्री-पुरुँषों से इस संकलन की सामग्रियाँ प्राप्त की गई हैं, उन सबका यहाँ नाम पाना संभव नहीं, किन्तु लोक साहित्य एवं संस्कृति के वाहक इन ग्रामीणजनों को हम अपना हार्दिक आभार एवं धन्यवाद ज्ञापित करना एक जर्रूरी कर्त्तव्य अवश्य समझते हैं।

लोक साहित्य एवं लोक कलाएँ एक तरफ लोक संस्कृति के वाहक हैं, तो दःूसरी ओर शिष्ट साहित्य की जन्मदःात्री भी, अतः इसकी सुरक्षा होनी ही चाहिए। लेकिन आज भारत में बढ़ते औद्योगीकरण की उफान, पाश्चात्य प्रभाव एवं समय तथा दःूरी पर विज्ञान की विजय तथा दःूरस्थ जगहों पर आने-जाने व बस जाने के कारण प्राचीन भारतीय संस्कृति का लोक प्रचलित प्रवाह काफी कु बाधित भी होता जा रहा है, और इस धारा की मौलिकता

के विनष्ट होने का खतरा गंभीर रूप से उपस्थित है। यह लोक साहित्य पूर्णतया प्रत्यक्ष एवं मौखिक है, इसके वाहकों का अवसान होना इस संस्कृति के एक हिस्से का अवसान होना है, अतः आधुनिकता से आहत इस लोक-साहित्य एवं संस्कृति के संरक्षण का कार्य तेजी से करने की आवश्यकता है। भोजपुरी में मौखिक लोक साहित्य के संग्रह एवं शोध के कार्य यद्यपि बहुत हुए हैं, फिर भी इस दिशा में कार्य की अभी व्यापक संभावनाएँ मौजूद हैं।

कहावतें

कहावतें मानव जाति के अनुभवों की सुन्दःर अभिव्यक्ति हैं। इनसे सांसारिक व्यवहार-कुशलता एवं सामान्य बुद्धि का उत्कृष्ट निदःर्शन होता है। यह ग्रामीणों, खासकर ग्रामीण स्त्रियों की निजी सम्पत्ति है। लोक साहित्य के क्षेत्र में काम कर चुके या कर र प्रायः सभी विद्वेानों/खोजकर्त्ताओं की एकमत से राय है कि अधिकतर कहावतों का उदः्भव स्त्रियों द्वेारा हुआ है। शिक्षित के बजाय अनपढ़ स्त्रियों की वाणी में कहावतों/मुहावरों का कोश ही रहता है। वह इनका सट्ीक प्रयोग करना जानती और करती हैं। इसीलिए तेलगू में एक कहावत है- ""शिक्षित की अपेक्षा धोबी अच्छा है न?" बातचीत के क्रम में सट्ीक कहावत का प्रयोग कर सामने वाले को प्रभावित एवं निर्रूत्तर किया जा सकता है; यही कहावतों की प्रामाणिकता का सबसे बड़ा आधार है, यही उसकी महत्ता एवं उपयोगिता का सबसे बड़ा प्रमाण है। इन कहावतों के माध्यम से समाज के बौद्धिक स्तर, उसके रहन-सहन, सभ्यता-असभ्यता आदि को काफी कुछ समझा जा सकता है। कहावतों में लोक-जीवन की चेतना व आत्मा का निवास होता है। इनमें पूर्वजों के अनुभव एवं इतिहास समाहित होते हैं। यह पीढ़ी दःर पीढ़ी को उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त होते हैं।

कहावतें लोक से जुड़ी उक्ति हैं, इसीलिए इन् लोकोक्ति भी कहा जाता है। इनके माध्यम से लोक नीति, लोक-प्रतिभा एवं लोक-संस्कारों का दिग्दःर्शन किया जा सकता है। यदि कहा जाय कि कहावतें/ लोकोक्तियाँ लोक की बौद्धिक सम्पदः्ा हैं, तो अनुचित नहीं। कहावतें प्रायः संक्षिप्त, सारगर्भित, लयात्मक, अनुप्रासयुक्त और प्रभावशाली अनुभूति की अभिव्यंजक होती हैं। इनकी शैली सरल और इनके भाव सजीव होते हैं। कहावतों का लोक प्रवाह अति प्राचीन काल से बना हुआ है, जो काल एवं परिवेश विशेष में प्राप्त अनुभवों के साथ क्रमशः समृद्ध होते गया है। कहावतें सार्वकालिक, सार्वदः्ेशिक एवं सदः्ा प्रासंगिक बनी रहेंगी। लोक जीवन से प्रत्यक्ष सम्पर्क द्वेारा संकलित कु कहावतें यहाँ दी जा रही हैं। इनका महत्व स्वयंसिद्ध है।

१. अँडुआ बैल बंहेड़ुआ पूत, खा ले बेटा कहीं सुत। (बंहेड़ुआँउअवारा, कहा न मानने वाला)

२. अंजोरिया धरम के रात ह।

३. अंधरा कू लंगड़ा कूट्े, हमरा चाउर से काम।

४. अइली ना गइली फलां ब कहइली।

५. अउरी जात के भुखाइल ना गोेंड के लवलइ। (गोंड़उभंड़सार, जो दिन भर कु न कु खाते रहता है, पे भ रहने पर भी वह उतना खा जाता है, जो एक भूखा व्यक्ति खाता है, यही लवलई है)

६. अकरावन पिया मर गइले, सेजिया दःेख भयावन भइले। (अकरावनउअकर्मण्य, कर्महीन)

७. अकेले मियाँ रोवस कि कबर खानस।

८. अगरो अगरइली त खँडतर ले परइली। (खँड़तरउचिथड़ा, पराइलउभागना)

९. अगल-बगल घर गोलक में। (परस्पर सहयोग के आभाव में विपत्ति को निमंत्रण)

१०. अगली भइली पिछली, पिछली पुरधाइन। (पुरधाइनउप्रधान, मुख्य)

११. अगुताइल कोंहार लगले मूड़ी से माट्ी कोड़े।

१२. अगुताइल बिट्यिा के लइका भइल, गोड़ा तर धइल,सियार ले गइल।

१३. अघाइलो भइंस पाँच काठा। (अघाइलोउभर पे भोजन किया हुआ)

१४. अण् सिखावे बच्चा के चेंव-चेंव मत कर।

१५. अनका धन पर तीन ट्किुला!

१६. अनका धन पर तेल बुकवा।

१७. अनका धन पर विक्रम राजा!

१८. अनका धन पे रोवे अँखिया!

१९. अन्न बिनु लुगरी पुरुँख बिनु पइया, लुगवा के फट्ले धनि भइली बउरइया। (पुरुँष अन्न के आभाव में लुगरी, अर्थात् चिथड़ा, फटा-पुराना कपड़ा, कमजोर वस्न की तरह खस्ताहाल हो जाता है, और स्री पति के बिना पइया (बिना दःाना की छिमी, पट््टा!) की तरह जर्जर, खोखला, निरस या बेदःम हो जाती है। यहाँ "लुगा का फट्ना' एक मुहावरा है, तात्पर्य यह कि फट्ेहाल जिंदःगी पाकर मनुष्य पागल की दःशा को प्राप्त करता है।)

२०. अन्हरा सियार के पकुआ मेवा दःुर्लभ ? (पकुआउबरगद का फल)

२१. अन्हरा सियार के महुआ मिठाई।

२२. अन्हरी गाय के राम रखवार।

कुरमाली भाषा

कुरमाली भाषा झारखण्ड की एक प्रमुख भाषा है। यह एक अंतर-प्रांतीय भाषा है। इसका विस्तार क्षेत्र "उडीष्य शिखर, नागपुर, आधा-आधी खड़गपुर" लोकोक्ति से ज्ञात होता है। कुरमाली के क्षेत्र राजनितिक मानचित्र द्वारा परिसीमित नहीं किया जा सकता. यह केवल छोटानागपुर में ही नहीं, बल्कि उड़ीसा में क्योंझर, बोनई, बामडा, मयुरगंज, सुंदरगढ़, पश्चिम बंगाल के अंतर्गत पुरुलिया, मिदनापुर, बंकुरा, मालदा, दिनाजपुर के सीमावर्ती इलाकों, जो बिहार से सटे हैं, एवं छोटानागपुर के राँची, हजारीबाग, गिरिडीह, धनबाद, सिंहभूम, एवं, बिहार के भागलपुर इलाके व संथालपरगने में भी बोली जाती है। यह भाषा केवल कुर्मियो तक ही सिमित नहीं, बल्कि इनके साथ निवास करने वाले अन्य जातियों के भाव-विनियम का भी साधन है। यह मुख्यतः देवनागरी लिपि में लिखी जाती है, परन्तु इसके साहित्य बांग्ला और उड़िया में भी उपलब्ध है।

कुरमाली भाषा और साहित्य

कुरमाली भाषा का नामकरण छोटानागपुर की अन्य भाषाओं- मुंडारी, संताली, हो, खड़िया की भातिं कुरमी जाती के नाम पर हुआ है। यह 'कुर्म' शब्द में 'आली' प्रत्यय लगाकर बना है। कुरमाली बांग्ला, ओडिसी और असमिया की भांति मागधी अपभ्रंश प्रसुत है और इन्ही की तरह एक निश्चित भाषा है। बिहारी वर्ग की भाषाओँ से इसका प्रयाप्त साम्य परिलक्षित होता है। इनमे अनेक समानताओं के बावजूद कुरमाली की अपनी निजी विशेषतायें हैं जो अन्य मागधी-प्रसूत भाषाओ से पृथक करती है। कुरमाली की ध्वनिगत विशेषतायें, मुहावरे, लोकोक्तियाँ, सुर, ताल, लय, विविध गीत इसके पार्थक्य के आधारभूत कारण हैं। इसमें लोक-गीतों, लोक-कथाओं, लोकोक्तियों और पहेलियों की संख्या बहुल हैं। कुरमाली लोकसाहित्य में लोकगीतों के बाद लोक-कथाओं, पहेलियों, और लोकोक्तियों का स्थान है। इन लोकगीतों, लोक-कथाओं एवं लोकोक्तियों में कुरमाली जीवन की छाप स्पष्ट परिलक्षित होती है। इन विधाओं की विविध रचनाओं से ज्ञात होता है कि कुरमाली साहित्य जितना समृध है, भाव- सौन्दर्य की दृष्टि से भी उतना ही उत्कृष्ट।

कुरमाली साहित्य व विकास यात्रा

अध्ययन-अध्यापन की दृष्टि से कुरमाली लोकसाहित्य को तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है।

- १. आदिकाल (अस्मरणीय काल से सन १७५० ई. तक),
- २. मध्य काल (सन १७५०-१९५० ई. तक),
- ३. आधुनिक युग (सन १९५० से अबतक)

आदिकाल

इसके अंतर्गत कुरमाली के लोक-गीतों- ढप, बिहा, डमकच, सरहुल, नटुआ, वंदना, करम, एढेइया, उधवा, कुआंरीझुपान, ढाबका, महराई, इत्यादि लोक-कथाये, लोकोक्तियाँ, और पहेलियाँ हैं, जिनके रचयिता अज्ञात हैं।

मध्यकाल

मध्यकाल में कुरमाली के जनकवियों में विनन्द सिंह, गौरंगिया, बरजुराम, नरोत्तमा, पीताम्बर, दीना, उदय, खेप, बोघा, रामकृष्ट, त्रिलोक्य नाथ मंडल, हांड़ीराम, डीमा, जगा, हलधरा को रखा गया है।

आधुनिक काल

इस काल के प्रसिद्ध कवियों में सृष्टिधर, महिपाल, भवप्रीता, महीम, श्रीकांत, काशीनाथ, हराधन, लाखिकांत, केशवचन्द्र, मानसिंह, अनंत केशरियार, सुनील, जगन्नाथ, रामेश्वर इत्यादि हैं। चूँकि कुरमाली एक अंतरप्रांतीय भाषा है, अतः आधुनिक काल में देवनागरी, बँगला, और उड़िया लिपि में साहित्य का भरपूर विकास हुआ है।

यों तो कुरमाली शिष्ट साहित्य का प्रारंभ कुरमाली के मध्य काल से मन जाता है, परन्तु इसका उत्कृष्ट काल सन १९०० ई. से ही है। सर्वप्रथम ग्रियर्सन महोदय ने सन १९०३ ई. में "भारत का भाषा सर्वेक्षण" में कुरमाली भाषा के व्याकरणिक विशेषताओं का विस्तृत एवं वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया। सन १९२१ में स्व. निरंजन महतो ने गीत-संग्रह "नेठापाला", सन १९७० में श्री बुधु महतो ने "करम-गीत" प्रकाशित कराई. सन १९५३ में श्री राजेंद्र प्रसाद महतो ने स्वरचित पुस्तक "कपिला मंगल" प्रकाशित कराई. इसी वर्ष श्री

चक्रवर्ती देवकी नंदन प्रसाद की दो पुस्तकें "न धरे आँखी जल आँखी पाते" तथा "केते अकुहा भाषा, केते उत्तला आसा" प्रकाशित हुईं. सन १९५६ के आस-पास स्व. रजा उपेन्द्र नाथ सिंह ने विनंदन आदि कवियों विनंदन सिंह और गौरंगिया के गीतों का संग्रह कर "आदि झूमर संगीत" और और "ताल-मंजरी" नामक दो पुस्तकें प्रकाशित करायी. सन १९५८ में डा. विश्वनाथ प्रसाद एवं श्री सुधाकर झा शास्त्री ने "लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ़ मानभून एंड धलभूम" में कुरमाली भाषा के गीतों के साथ-साथ व्याकरणिक विशेषताओं पर प्रकाश डाला। इसके पूर्व सन १९५७-५८ में अपने लघु शोध प्रबंध के लिए "छोटानागपुर के कुरमाली

लोक साहित्य

लोक साहित्य में उन साहित्यों को रखते हैं, जिनके उद्‌गम, काल-निर्धारण, या लेखक सम्बन्धी कोई निश्चित अनुमान लगाना संभव नहीं है। यह साहित्य उन कुर्मी सभ्यता के उस विकसित परंपरागत ज्ञान और साहित्य का संकलन होता है जो की पीढ़ी-दर-पीढ़ी सदियों से लोक-कथा, लोक-गीत, आदि में अबतक कुरमाली-भाषी लोगो को विरासत में मिली है। कुरमाली लोक-साहित्य की जो सामग्रियाँ मिलती हैं, उन्हें हम मोटे तौर पर पांच वर्गों में रख सकते हैं:-

- १. कुरमाली-लोकगीत,
- २. कुरमाली लोक-कथाएं,
- ३. कुरमाली लोक-नाट्य,
- ४. कुरमाली-कहावतें, और
- ५. कुरमाली-पहेलियां.

कुरमाली लोक-गीत

कुरमाली में लोकगीतों की संख्या बहुल है। आज भी ये गीत लोक-मुख में जीवित है। गीत अत्यंत सरस और मर्मस्पर्शी है। कुरमाली गीतों की परंपरा अति प्राचीन है। कोई भी अनुष्ठान गीत एवं नृत्य के बिना संपन्न नहीं होता। अधिकांश गीत नृत्यगीत हैं। राग के द्‌वारा ही गीतों के पार्थक्य और वैशिष्ट्य को समझा जा सकता है। कुरमाली जीवन के हरेक पहलू, विविध दृष्टिकोण और बहुआयामी विचार-धाराओं को कुरमाली लोकगीत संस्पर्श करता है। कुरमाली लोक-गीतों की प्रमुख विशेषता यह है कि अधिकांश गीत प्रश्नोत्तर के रूप में हैं। छंद-विधान के नियम से पुर्णतः मुक्त है। इसके अपने छंद हैं जो गेय हैं। गीतों के

ले द्वारा ही शैलीगत तत्व को पहचाना जा सकता है। कहीं-कहीं स्वतः अलंकारो का प्रयोग हुआ है। कुरमाली लोकगीतों को कई वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है। जैसे (क) संस्कार-गीत, (ख) ऋतु-गीत, (ग) देवी-देवताओं के गीत, (घ) श्रम-गीत, (ड) खेल-गीत, (च) जाती-गीत, (छ) प्रबंध गीत आदि। कुरमाली के प्रमुख लोकगीत हैं: उधवा, ढप, बिहा, दमकच, सरहुल, नटुआ, डाइडधरा, जावा-करम, एधेइया, डाबका, बंदना, कुवांरी- झुपान आदि। साधारणतः कुरमाली के लोक-गीतों में प्रकृति का चित्रण प्रयाप्त मात्रा में मिलता है। करम गीतों में अंकुरोदय, पुनर्विवाह, कृषि-कर्म, हास्य-व्यंग्य, जीवन-यापन की पद्धिति का उल्लेख मिलता है। विवाह गीतों में कुरमाली संस्कृति, सामाजिक व्यवहार, खान-पान, दैनिक कर्म, रहन-सहन की छाप परिलक्षित होती है। कुरमाली समाज में कन्या का महत्वपूर्ण स्थान है। जिस प्रकार वन की शोभा पुष्प है, उसी प्रकार घर की शोभा कन्या होती है। कुरमाली के कुवांरी झुपान गीतों में जादू-टोना, तंत्र-मन्त्र एवं अंध-विश्वास का वर्णन मिलता है। डाइडधरा, ढप आदि गीतों में उच्च कोटि का दार्शनिक भाव झलकता है। वहीं डमकच गीतों में भाव-सौंदर्य के साथ-साथ हास्य का पूट भी मिलता है।

कुरमाली लोक-कथाये

कुरमाली में लोक-कथाओं का विशाल भण्डार मिलता है। साधारणतः लोक-कथाओ का मुख्य उद्देश्य मनोरंजन करना ही रहा है, परन्तु ये एक पूर्ण विकसित भाषा से कम शिक्षाप्रद, दार्शनिक भाव से ओत-प्रोत हैं। लोग रात को घर में खलियान के कुम्बा या धन्धौरा के चारो ओर जाड़े की लम्बी रात काटने के लिए कहानियां कहते हैं। कुरमाली लोक-कथाओ में अलौकिक और असंभव बातो की भरमार रहती है। एक उल्लेखनीय बात यह है कि जो लोक-कथायें अमेरिका, यूरोप एवं हमारे देश के अन्य लोक-भाषाओ में प्रचलित है, थोड़ा-बहुत अंतर के साथ कुरमाली में भी उपलब्ध है। कुरमाली के लोक-कथाओं को मुख्य रूप से तीन वर्गों में बांटा जा सकता है: १. धार्मिक लोक-कथाएं- यथा 'कर्मा-धर्मा', तीन ठकुराइन, आर-नि-रहम, आदि। २. शिक्षा-प्रद लोक-कथाएं- यथा बुद्धिक-दाम, राइकस-आर-अमरी, गरखिया-आर-राजकुमारी, अटुकारा-राजा, मूंगा-मोती, करम-कापाड़, आदि। ३. मनोरंजन प्रधान लोक-कथाएं- यथा बाउना, बाड़ा-सियार, पुइतु-बुढा, सियारेक-चाउछाली, बेनिया-आर-चरवाहा आदि

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष में आते हैं कि कुरमाली लोकगीतों में जीवन के विभिन्न पहलुओं का यथार्थ और सजीव चित्रण हुआ है।

कुरमाली लोक-नाट्य

हमारे देश में लोक-नाट्य की परंपरा बहुत प्राचीन है। यद्यपि लोक-नाट्यो में नाटक के सभी तत्व नहीं मिलते है, फिर भी नाटक के कुछ न कुछ तत्व तो अवश्य ही मिलते हैं। वस्तुतः साहित्यिक नाटक के नीव ये लोक-नाट्य ही हैं, इसमें कोई संदेह नहीं कुरमाली के प्रमुख लोक-नाट्य हैं:- i. छौ नृत्य ii. नटुआ नृत्य iii. डमकच और iv. मछानी.

i. छौ नृत्य:- इस नृत्य में नर्तक अपने मुंह पर मुखौटा धारण करता है और अपने अंग-प्रत्यंग के हाव-भाव द्वारा भावो को अभिव्यक्त करता है। कथा-वस्तू के रूप में पहले गीत गया जाता है। गीत के द्वारा ही दृश्य भी बदला जाता है। यह मौसमी नृत्य है। परन्तु, अपनी प्रचुर लोकप्रियता के कारण अब यह नृत्य देशी अखाड़े से निकलकर अंतर्राष्ट्रीय रंगमंच पर आ गया है।

ii. नटुआ नृत्य:- यह कुरमाली का बहुत पुराना नृत्य है। गीतों के द्वरा कथावस्तु का परिचय दिया जाता. यह वीर रस का नृत्य है। नर्तक अपने शरीर को रंगीन फीतों से सुसज्जित करता है और अपने हाथो में ढाल और तलवार लेकर नृत्य करता है। उसकी भंगिमा युद्ध की स्तिथि की होती है। इस नृत्य को देख कोई अपरिचित दर्शक राजस्थानी राजपूतों के नृत्यों से तुलना कर सकता है।3

iii. डमकच:- यह विवाह के अवसर पर होने वाला नृत्य है। जब वर विवाह करने के लिए चला जाता है तो स्त्रियाँ मर्दों के पोशाक पहनकर नृत्य करती हैं। कभी-कभी वे विवाह का अभिनय भी करती तो कभी-कभी किसी अन्य कथावस्तु को लेकर अभिनय करती हैं। गीत प्रश्नोत्तर के रूप में होते हैं, जिसे हम कथोप-कथन शैली कह सकते हैं।

iv मछानी:- लोक नृत्य में स्त्री-पुरुष दोनों ही भाग लेते हैं। गीतों के द्वारा एक दुसरे को प्रश्न करते हैं। गीत ही इसकी कथावस्तु है। बीच-बीच में गध्य-शैली का प्रयोग होता है। इस नृत्य में दृश्य भी बदलते हैं। कथावस्तु व्यंग्यात्मक शैली में होती है।

कुरमाली कहावतें (लोकोक्तियाँ)

किसी भी भाषा का साहित्य उस समाज का दर्पण होता है। लोक-कहावतें और लोक-लोकोक्तियाँ उस समाज, जाति के आचार-विचार, रीति-रिवाज, जीवन-दर्शन, हास-परिहास, जीवन-पद्धति, व्यवसाय आदि की अभिव्यक्ति व दिग्दर्शित होती है। झारखण्ड के कुर्मियों का मुख्य पेशा कृषि है। कुरमाली-लोकोक्तियों में कृषि का सम्बन्ध स्पष्ट झलकता है। इन लोकोक्तियों में मुख्यतः अच्छी फसल होने के संकेत, विनाश के कारण, अवसर तथा स्तिथि

का दिग्दर्शन होता है। इन सब के अतिरिक्त इसमें हास्य, व्यंग्य, ललकार, चेतावनी, सूचना, सूक्तियों के द्वारा गूढ़ बातों की शिक्षा दी जाती है। कुरमाली लोकोक्तियों में आचार-विचार, रीति-रिवाज, आर्थिक, धार्मिक, राजनितिक, सांस्कृतिक जीवन की अभिव्यंजना मिलती है।

१. धर्म सम्बन्धी - यथा "जो करे पुइन, से हेई ढीपा सुइन".

२. निति सम्बन्धी _ यथा "हेंठ मुडिया, बेड़े एडीया".

३. कृषि सम्बन्धी - यथा "आमे बाम, तेंतेरिये टान".

४. पुष्टि सम्बन्धी - यथा "एक बहुइं ठाकुर, दुई बहुइं कुकुर, तीन बहुइं देखे भकार-भुकुर".

५. शिक्षा सम्बन्धी - यथा "नदी धारक चास, मिछाय कर आसघु, सल चट नहाई परे".

६. आलोचना सम्बन्धी - यथा "सुमेक धन साइताने खाय, बांचे से अदालत जाए.".

७. सूचना सम्बन्धी - यथा "सावनेक गाछी आर बाछी, डंगुआ जेनिक घार आर दामडा गरुक हार".

८. अर्थ सम्बन्धी - यथा "माछेक मायेक पुतेक सक, आधा साँप आधा बक.." .

९. व्यंग्य - यथा "कण विहाइं दुई गड़े आरता.".

१०. संस्कृति - यथा "हांड़ी किनथिन ठंकी के आर केनिआइ, करतीन देखि के...".

११. जाति सम्बन्धी - यथा "बांस बने डोम काना, घासी खाजे कुमनी, आर चासा खाजे डीमनी.."

- **लोक नाटय लोक रिति रिवाजो का बदलता स्वरूप एवं आज की भाषा से गायब होता मुहावरे लोकोक्तियाँ तथा कहावते।**

- आज की भाषा से मुहावरे और लोकोक्तियों को जैसे देशनिकाला दे दिया गया है! जाहिर है, इसलिए भाषा नीरस और उबाऊ होती चली जा रही है।
- प्रेमचंद बहुत पुराने लेखक नहीं हैं, लेकिन शहरी पाठकों के सामने 'दो बैलों की कथा' में आए शब्दों को पूरे अर्थ-वैभव के साथ समझा पाना कठिन होता जा रहा है। कांजीहौस,

चिप्पड़, भीत, पगहिया, नांद, सानी-पानी जैसे शब्दों से अनेक छात्र और अध्यापक तक अपरिचित हैं। 'ईदगाह' में शहर को चकित होकर देखने वाले देहाती बच्चे की तरह आज के शहरी पाठक जब 'कफन' तक पहुंचते हैं, तो उन जीवन-स्थितियों से सर्वथा अनजान होने के कारण आलू भूनने, गांव के भोज में पचास-साठ पूरियां खाने की स्मृति-कथा और बुधिया की प्रसव-व्यथा से ही छटपटा कर शांत हो जाते हैं। नई अर्थव्यवस्था में यह संकट दिनोदिन बढ़ता जाएगा।

-
-
- आज आमफहम मुहावरों और लोकोक्तियों से संपन्न भाषा गुजरे जमाने की चीज हो गई है। दुखद है कि आज की भाषा से मुहावरे और लोकोक्तियों को जैसे देशनिकाला दे दिया गया है! जाहिर है, इसलिए भाषा नीरस और उबाऊ होती चली जा रही है। 'रामचरितमानस' के बालकांड में सीता को आशीर्वाद देते हुए कौशल्या कहती हैं, 'अचल होउ अहिवातु तुम्हारा/ जब लगि गंग जमुन जल धारा'। 'अहिवात' यानी सुहाग। मिथिला में भी अवधी अंचल की तरह सुहाग के लिए अहिवात और सुहागिनों के लिए अहिवाती शब्द प्रचलन में है, लेकिन पिछले कुछ दशकों से उत्तर भारतीय समाज का जिस तरह करवा-चौथीकरण हुआ है, उसके बावजूद, 'अहिवात' शब्द को पूरे अर्थ-वैभव के साथ समझा पाना थोड़ा मुश्किल हो गया है। तुलसी के यहां अवधी के ऐसे सैकड़ों शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जो आज भी उसी रूप में प्रचलित हैं, लेकिन 'शिष्ट-भाषा' हिंदी के पाठकों के लिए वे शब्द किसी विदेशी के शब्द-जैसे हो गए हैं! रिश्तों का 'अंकलीकरण' होने से जिस प्रकार चाचा, ताऊ, मामा, चचेरे मामा सब महज 'अंकल' तक सीमित हो गए हैं, उसी तरह उत्तर भारतीय खाने का 'पनीरीकरण' होने से बहुत सारे पकवान और पकवानों से संबंधित शब्द हमारी भाषा से गायब होते चले जा रहे हैं। संस्कृत की रोटिका यानी हिंदी की रोटी के लिए हमारे यहां दर्जनों शब्द हैं, लेकिन अब सोहारी यानी चपाती भी रोटी है और हाथ से ठोक कर बनाई गई हथरोटिया मोटी रोटी भी रोटी ही है! तुलसीदास ने अपनी रचनाओं में 'सोहारी' शब्द का प्रयोग किया है, जो असल में गेहूं की चपाती के लिए प्रयुक्त होता है। मगर आॅक्सफोर्ड की डिक्शनरी के मुताबिक यह घी में तली गई पूरी है और छत्तीसगढ़ में पकवान! ऐसे में भला मांगलिक अवसर पर बनने वाली 'दोस्ती सोहारी', बिहार में बनने वाले 'रोट'

और राजस्थान के मेवाड़ अंचल की 'झकोरमा पूरी' के मर्म तक महज कुछ शब्दों के सहारे कोई आलोचक कैसे पहुंचा सकता है!

- पके हुए चावल के लिए बहु-प्रचलित शब्द है 'भात', लेकिन न जाने क्यों भात कहने में लोगों को भदेस कहलाने का भय सताने लगा है। सब्जी कहने में ऐसा गौरव-बोध होता है कि 'तरकारी' कहने में संकोच होने लगा है। जबकि हमारा साहित्य इन्हीं परंपरा से, इन्हीं शब्द-संपदाओं से रचा गया है।
  किसी भी भाषा का अर्थ जब सिर्फ अभिव्यक्ति तक सीमित होकर रह जाए और संस्कृति का व्यापक दायरा जब सिर्फ उपभोग की संस्कृति रह जाए, तो गांव, ग्रामीण समाज, खेती-बारी, प्रकृति, लोक-संस्कृति और लोकोक्ति के प्रयोग से संपन्न रचना की व्याख्या और अर्थ-पंखुड़ी को अनावृत्त करने का प्रयत्न बहुत चुनौतीपूर्ण हो जाता है। इसलिए जिस तरह 'सभ्यता के विकास के साथ-साथ कवि-कर्म कठिन होता चला जाता है', उसी तरह आलोचना-कर्म भी कठिन होता चला जाता है। कवि या लेखक जिस जमीन पर अपनी
- रचना करते हैं, जिस जीवन की कथा लिखते हैं, उस रचनात्मक पृष्ठभूमि के बारे में अगर पाठक को कोई इल्म न हो, तो आलोचक चाहे कितना भी बड़ा लालबुझक्कड़ क्यों न हो, वह उस रचना के अर्थ-वैभव और सामाजिक जीवन-विवेक तक लेकर नहीं जा सकता।
- घाघ ने लिखा है, 'जोंधरी जोते तोड़-मरोड़/ तब वह डारे कोठिला फोर' यानी जोंधरी के खेत की जुताई अधिक करनी चाहिए। ऐसा करने पर इतनी अधिक पैदावार होगी कि कोठिले में नहीं समाएगी। आज जोंधरी शब्द से अधिकतर जन अपरिचित हैं और कोठिला और बखार के दर्शन तो अब गांव में भी बमुश्किल होते हैं। सूरदास ने अपने पद में मोटे अनाज के तहत आने वाले कोदो-सावां का जिक्र किया है। आजादी के बाद भारत के खेतों में धान, गेहूं, दलहन और कुछ तिलहनों की आमद के कारण आज कोदो-सावां का दर्शन भी दुर्लभ है। मैथिली के कवि चंदा झा ने उत्तर बिहार में गंगा के किनारे पहलेजा घाट क्षेत्र में होने वाले तरबूज के लिए 'पहलेज' शब्द का इस्तेमाल किया है। इसलिए बिना इसकी पृष्ठभूमि से परिचित हुए पाठक असली काव्य-मर्म तक नहीं पहुंच सकता।
  आज की हिंदी आलोचना लगातार दोतरफा चुनौतियों से जूझ रही है। एक तरफ गांव,

ग्रामीण समाज, खेती-बारी, प्रकृति, लोक-संस्कृति और लोकोक्ति से बढ़ती दूरी के कारण जहां इससे संबद्ध और आबद्ध रचनाओं के मर्म का संप्रेषण बहुत कठिन होता जा रहा है, वहीं दूसरी तरफ नई सूचना तकनीक से अनजान विद्वान आज की शब्दावली के प्रयोग से संबद्ध रचनाओं के मर्म तक नहीं पहुंच पा रहे हैं। कहीं ऐसा तो नहीं कि संप्रेषण की इसी समस्या के कारण पुराने आलोचक नई रचनाओं के मर्म को नहीं समझ पा रहे हैं और हमारे समय के नए आलोचक पुरानी रचनाओं के मर्म तक पहुंच ही नहीं पा रहे हैं?

- सत्तर के दशक में यह अनुभव किया गया कि नाटयलेखन का ढर्रा पश्चिमी है और भारतीय रंगमंच में भारतीयता की खोज इसके पारंपरिक जड़ों से जुड़ कर होगी॰ इससे 'जड़ों के रंगमंचश्;थियेटर आफ रूट्सद्ध का मुहावरा सामने आया॰ नाट्य लेखन और मंचन में पारंपरिक रंग भाषा की तलाश होने लगी॰ इस तलाश के लिये सनाअ ने युवा रंगकर्मियों को प्रोत्साहित कियाए उत्सवों का आयोजन करके इन प्रयोगों को मंच भी दिया॰ हिंदी क्षेत्र में नौटंकी;आला अफ़सरए बकरीए हरिश्चन्नर की लड़ाइ जैसे नाटकों मेंद्ध नाचा;हबीब तनवीर के नातकों मेंद्धए बिदेसिया;अमलीए माटी गाड़ीए बिदेसिया मेंद्धए तमाशा;घासिराम कोतवाल मेंद्ध इत्यादि शैली के रंग तत्वों का इस्तेमाल हुआ॰ जड़ों के रंगमंच का मुहावरा एक आलांकारिक सज्जा में बदलता गया जिसका शहरी रंगमंच ने अपनी दृश्यात्मकता बढाने में उपयोग किया॰ पारंपरिक रंगमंच के सरंक्षण का कोई हल इससे नहीं निकल सका॰

हबीब तनवीर ही एक थे जिन्होंने लोक शैली के अभिनेताओं के साथ अपना रंगमंच किया॰ लोक शैली का केवल शिल्पगत प्रयोग ना करके उसे कथ्य का अनिवार्य हिस्सा बनाया और अपने रंगमंच के कई

शैलियों को सरंक्षित किया॰ इस आंदोलन से यह आशंका भी जताई गई कि यह आधुनिक मूल्यों को रंगमंच से विस्थापित कर पुनरुत्थानवाद और धार्मिकता को रंगमंच पर प्रतिष्ठित करेगाख्3,॰ और इसका उपयोग राजनीतिक रंगमंच को दिग्भ्रमित करने के लिये किया जाएगा॰ शहर और देहात के रंगमंच को यह करीब न ला सका इसकी दूरी वैसी ही बनी रही और अंततः अनुदान प्रायोजित इस रंगमंच का अवसान हो गया॰

- आजादी के बाद से नब्बे के दशक तक हिंदी मे रंगमंच की कई वैचारिक धाराएं और प्रवृतियां रहीं हैं॰ एक तरफ़ आधुनिक मुहावरे से प्रेरित रंगमंच था जिसमें नाटककार ही रंगमंच का प्रस्तावक था जिसके पाठ की निर्देशक अपनी व्याख्या कर अभिनेता से मंच पर अनुकृति कराते थे॰ इस मंच पर सब कुछ नियमबद्ध और यंत्रचालित था॰ यह दर्शकों को यथार्थ के सामने घटने का भी भ्रम कराता था॰ मोहन राकेश के नाटक आधुनिक रंग मुहावरे और पाश्चात्य प्रभाव के नाटक थे॰ इब्राहिम अल्काज़ी की निर्देशन शैली आधुनिक मुहावरे में ही थी॰ यदयपि उन्होंने रंगमंच को प्रोसेनियम से बाहर निकाल कर नये स्पेस में भी स्थापित किया॰ जिसमें अभिनेताओं द्वारा निर्मित मंच और पुराना किला जैसा ऐतिहासिक स्थल भी शामिल थे॰ दूसरी तरह का रंगमंच वह था जिसमें अभिनेताए या कोई कथा या कोइ विचार नाटक की प्रस्तावक थी और नाटकए अभिनेता और निर्देशक के संयुक्त उपक्रम से विकसित होता था ॰ हबीब तनवीर के नाटक इसके प्रतिनिधि उदाहरण हैं॰ एक धारा ब्रेख्त के रंगमंच से प्रभावित रही हैं जिसमें ब्रेख्त के कई नाटकों को हिंदी की विभिन्न

बोलियों में खेला गया और नाटक के यथार्थवादी भ्रम को तोड़ा गया॰ जड़ों का रंगमंच भी इस ब्रेख्तियन शैली के निकट था जिसमें गीतए संगीत और नृत्य द्वारा महाकाव्यात्मक रंगमंच खड़ा किया गया॰

-
-
- " ऑक्सफोर्ड कम्पेनियान ऑफ ड्रामा के अनुसार फोक प्ले यानि लोकनाटक ऐसा नाट्य मनोरंजन है जो ग्रामीण उत्सवों पर ग्रामवासियों द्वारा स्वं प्रस्तुत किया जाता है और प्रायः अशिष्ट और देहाती होता है |" (पारंपरिक नाट्य नामक पुस्तक से) अब ये है परिभाषा | तो क्या आप अब भी भारत के क्षेत्रीय नाट्यशैलियों को "फोक थियेटर या लोक नाट्य" कहेंगें ? कुछ ज़्यादा "पढ़े-लिखे" टाईप रंगकर्मी महानगरों में पाए जातें हैं जो बात-बात पर ग्रीक, रोम, जापान आदि की सैर करने लगतें हैं और जिन्हें भारत, भारतीयता, परम्परा आदि शब्दों के अर्थ खोखले लगते हैं वो बड़े शान से **थ्वसा जीमंजतम** जैसे शब्दों का उच्चारण करतें हैं |
- | वो माल बनाएगा, उस माल की महानता को प्रामाणिक बनाने के लिए हमारे नायकों-महानायकों का मुखौटा इस्तेमाल करेगा और हम उसका उपभोगकर अपने आपको सभ्य और धन्य समझेंगें | आज नीम का दातुन हममें वो जादू नहीं जगा पता जो क्लोज़-अप का एक रंगीन टुकड़ा कर देता है | ये उपभोक्तावादी प्रचार तंत्र हैं जो हमारी सांसों में कुछ इस तरह रच-बस गया है कि कुछ गलत जैसा अनुभव भी नहीं होता |
- यहाँ मैं अपनी बात किसी पुनरुत्थानवादी अंधभक्त की तरह नहीं कह रहा बल्कि यह जानते हुए कि गलत-सही हर परंपरा में होता है, फिर भी यह सवाल कर रहा हूँ कि हमें अपनी परम्परा पर गर्व की बजाय ग्लानी

क्यों है आज भी ? अगर हम खुली आँखों और स्वास्थ्य दिमाग से आंकलन करें तो पायेंगें कि भारतवर्ष में भी नाट्य-प्रशिक्षण की अपनी एक समृद्ध परंपरा रही है जिसे एक साजिश के तहत नज़रंदाज़ किया गया है | खासकर आज़ादी के बाद | यहाँ उस व्यकि को महानतम का दर्ज़ा दिया गया जो विदेशों में देखे नाटकों को थोड़ा फेर बदल करके भारत में जनता के पैसों से मंचित कर रहा था और तमाम लोक कलाकार और भारतीयता का ध्यान रखकर कार्य कर रहे लोग को तुच्छ, अनपढ़, गंवार, गवाई समझा गया | यह बात ठीक वैसी ही है कि अगर कोई व्यकि भोजपुरी बोल रहा है तो अपने-आप ही अनपढ़-गंवार का तमगा उसपर लग जाता है और कोई अगर अंग्रेज़ी में बकवास भी कर रहा है तो वो सभ्य और सुसंस्कृत मान लिया जाता है | जैसे हमारी आँखें फट जाती है ये सोचकर कि भाई कमाल देश है इंग्लैंड बच्चा – बच्चा वहाँ अंग्रेज़ी बोलता है | ये कौन सी मानसिकता है ?

- ये ओपनिवेशिक सोच है जो आज और भी प्रखर हो गई है | हम ग्लोबल होने के नाम पर एक तरह की मानसिक गुलामी को अपने ऊपर आरोपित होने दे रहें हैं | इस साजिश में वो हर व्यक्ति शामिल है जिनके ऊपर हमारे और इस देश का भविष्य सवारने की ज़िम्मेदारी थी या है | जगदीश चन्द्र माथुर ने सन 1950 ई. में उदय की बेला में हिंदी रंगमंच और नाटक नामक आलेख में लिखा था कि *“यदि हिंदी में राष्ट्रीय रंगमंच के उदय से तात्पर्य है अभिनय के नियम, रंगशाला की बनावट, प्रदर्शन की विधि, इन सभी के लिए एक सर्वस्वीकृत परम्परा और शैली की अवतारणा होना, तो ऐसे रंगमंच का अस्त भी शीघ्र ही होगा |”*

- हम आज तक ये तय नहीं कर पाए कि एक ऐसे देश में जहाँ पग-पग पर पानी और बानी बदल जाती है वहाँ एक भारतीय रंगमंच का स्वरुप क्या होगा ? क्या हबीब तनवीर, रतन थियम, एच. कन्हाईलाल ग्लोबल नहीं हैं ? रोबिन दास कहतें हैं – *"कलाकार अगर सिर्फ किताबों के आधार पर पाई गई जानकारियों और अमेरिका, फ्रांस, जर्मनी, पोलैंड या रूस जैसे देशों में छपी किताबों या* सिद्धांतों *पर ध्यान दे तो उसके सामने यह समस्या रहेगी कि यह सब उस देश की खास एतिहासिक वजहों से अस्तित्व में आयीं | इस तथ्य को नज़र-अंदाज़ कर अगर इसे अपनाना शुरू कर दें तो क्या भारतीय रंगकर्मी अपनी रचनात्मकता और दर्शकों के साथ उसके रचनात्मक सम्बन्ध का गला नहीं घुट जायेगा ? फिर तो ये सिर्फ खांचों में फिट करने की बात हो होगी | ये एक वंध्य तरीका होगा | नई पीढ़ी को चाहिए कि वो अपने जीवनानुभवों के आधार पर रंगमंच के सिद्धांतों का मूल्यांकन या पुनर्मूल्यांकन करे |...एक खास बात जो मुझे चिंताजनक लगती है आज के युवा पीढ़ी के कुछ रंगकर्मी ऐसे नाटक करने लगें हैं या ऐसी रंगभाषा का प्रयोग करने लगें हैं जो उनको पश्चिम देशों के नाट्य महोत्सवों में निमंत्रित होने के योग्य बना सके | इसे वैश्विक रंगमंच की तरफ़ एक कदम कहकर व्याख्यायित किया जाता है | लेकिन जब भारतीय लोकतंत्र पश्चिम लोकतंत्र से अलग है, भारतीय नारी विमर्श*ए *पश्चिमी नारी विमर्श से अलग है, भारतीय दलितों और उनकी महिलाओं की स्थिति पश्चिम से अलग है तो फिर भारतीय रंगमंच पूरी तरह के पश्चिम के खांचे में कैसे ढाल सकता है |"* (रंग प्रसंग, अंक ४०, २०१२)|

- ऐसे नाटकों की प्रस्तुति जब विदेशों के रंग-महोत्सवों में होतें है तो आलम कुछ ऐसा ही होता है जैसे साऊथ की फिल्मों का हिंदी वर्जन देखा जा रहा हो |
- गौर करिये हबीब साहेब क्या कहतें हैं – *"थिएटर में अगर किसी और कल्चर की नकल की झलक हैए तो वह असली थिएटर नहीं है । थिएटर को अपने मुल्कए अपने समाज की जिंदगीए अपने मुल्क की शैली में कुछ इस तरह पेश करना चाहिए कि बाहर के लोग देखकर यह कह सकें कि ये भी एक थिएटर हैंए थिएटर के सारे लवाजमात तत्व उसमें मौजूद हैंए हमें उसमें वही मजा आता है जो थिएटर में आना चाहिए लेकिन अगर हम ऐसा थिएटर खुद करना चाहें तो नहीं कर सकेंगे । यानी थिएटर में इलाकाइयत (आंचलिकता) का दामन न छोड़ते हुए विश्व स्तर पर पहुंचना कामयाब थिएटर की कुंजी है। आज ऐसे थिएटर हमारे मुल्क में कम सही मगर है जरूर ।"* (हबीब तनवीर लिखित "चरणदास चोर के पीछे बहुतेरे कहानियां" आलेख से)
- रंगमंच एक गतिशील कला माध्यम है जो देश, समाज, काल आदि से अपना ताल-मेल मिलाता –बिठाता रहता है | उपभोक्तावादिता के इस अंधी दौर में आज समाज में हर तरह समूह का विघटन हुआ है | परिवार का विघटन हुआ है | आज सामूहिक चूल्हा एतिहासिक धरोहर का रूप ले चुका है | एक वर्ग यह जान चुका है कि सामूहिकता इंसान की सबसे बड़ी ताकत है | आज गुलाम बनाने के लिए देश के बजाय विचार को गुलाम बनाने की कला हुक्मरानों ने सीख ली गई है और विचार की गुलामी की सत्ता चलती रहे इसके लिए व्यक्ति को समूह से अलग करना एक अहम् मुद्दा बन चुका है | लोगों को समूह के बजाय छोटे-छोटे कमरों

में कैद कर देना और समूह के नाम पार उन्माद में डुबो देना एक अहम् बात में तबदील हो चुका है | शहरों में सिंगल रूम सेट का कांसेप्ट चरम पर है | किसी ज़माने में समूह में बैठना और बात करना भी जीवन का एक महत्वपूर्ण हिस्सा हुआ करता था, कुछ स्थानों पर आज भी है, पर आज समूह में निवास करना व्यक्तिगत स्वतंत्र का हनन के रूप में भी देखा जाने लगा है | क्या इन बातों से रंगमंच का कोई सरोकार नहीं है ?

- आज रंगमच के लिए समूह का गठन और उसे सुचारू रूप से संचालन क्या पहले जैसी ही बात रह गई है ? सामाजिक उथल पुथल और बदलाव से क्या रंगमंच का कोई सरोकार नहीं ? कई और भी पहलू है जिनपर बात होना चाहिए | पर समूह (सामूहिकता नहीं) का यह अभाव आज रंगमंच में भी साफ़ साफ़ देखने को मिलता है | कभी पचास-पचास सदस्यों की सदस्यता वाले नाट्यदल आज दहाई के अंक भी बड़ी मुश्किल से पार कर पा रहें हैं | क्या इस प्रक्रिया से एकल नाटकों का कोई लेना देना नहीं ? मैं स्वं व्यक्तिगत तौर पार कुछ प्रतिष्ठित नाट्य निर्देशकों व अभिनेताओं को जानता हूँ जो आज से एक दशक पहले एकल नाटकों को सामूहिकता के विरोधी मानते थे, क्योंकि उस वक्त उनके पास एक अच्छा-खासा समूह था पर आज जब वो समूह नहीं रहा तो एकल नाटक अभिनीत कर रहें हैं, निर्देशित कर रहें हैं, यहाँ तक कि उनके महोत्सव भी करा रहें हैं | क्या इन बातों से एकल नाटकों का कोई लेना देना नहीं ?
- रंगमंच को भ्रमों से दूर रहना और रखना चाहिए | इससे किसी का कोई तात्कालिक लाभ हो भी जाय पर लंबी अवधी में किसी का भी कोई खास भला नहीं होने वाला | आज़ादी के बाद के दशकों में बहुत ऐसे नाट्य निर्देशक, अभिनेता और रंगकर्मी हुए जिन्होंने रंगमंच की एक नई धारा खोजने का दावा पेश किया पर आज हम भली भांति जानतें हैं कि

उनमें से अधिकतर में कोई दम नहीं था | वो या तो हमारे पारंपरिक नाटकों का थोड़ा फेर बदलकर की गई प्रस्तुतिकरण थी, या किसी लोक कलाकार के महत्वपूर्ण कार्य का शहरी रंगकर्मियों द्वारा प्रस्तुतिकरण या फिर विदेशों में चल रहे नाट्य प्रयोगों का रूपांतरित संस्करण |

लोकोक्ति, कहावते एवं मुहावरो से तैयार नाट्य गीत

1. बंन्दर का जाने आदि का स्वाद

आम कटहल केला देखो छिन छिन कर खाये

माल पूआ खाके पेड़ो पे चढ़ जाये

उछल कूद के खाये और करे बरबाद

क्योकि बंदर तो बंदर है

बदर का जाने अदरख का स्वाद

2. सुन्दर भोली भाली लाडो के दुल्हा मिलल बकलेल

खुसुर फुसुर और काना फूसी जोड़ी बेमेल

विधाता दिखाई कैसन ई खेल

छुछुन्दर के माथे चमेली का तेल

3. भालू बजाते डम डम ढोल बंदर बजाते बाजा

जंगल में मंगल है देखो गदहा बना जंगल का राजा

राजा बाजा राजा बाजा खबर सुनो जी ताजा

आन्ध्रो में काना राजा हा आन्ध्रो मे काना राजा

4. अंधों में काना राजा को देखो लग गया फेरा

आँख बालो के बीच चले अब कोई भी चारा

बोलती हो गई बन्द अब क्या करे बेचारा

बोला डर कर फालतू है बेकार है बखेरा

चल हट

अब कुछ भी नही चलेगा तेरा

नाँच न जाने आँगन टेढ़ा

नाट्य कार्यशाला का अनुभव एवं निष्कर्षः–

विभिन्न राज्यों में नाट्य कार्यशाला के दरम्यान नाट्य संगीत प्रशिक्षण, अभ्यास एवं प्रस्तुति को लेकर जो बातें मुख्य रूप से उभर कर सामने आई वो लोक–व्यवहार, लोक गीत– संगीत, नृत्य एवं भाषा का असर नाटकों एवं उनके स्वयं के जीवन पर बहुत ही अधिक था। हिन्दी नाटकों गीत की संगीत रचना करते समय वे लोग थोड़ा असहज महसूस करते, बोल–चाल में भाषाओं को लेकर कहीं गलत उच्चारण ना हो जाये डरे हुए रहते थे। किन्तु जब उसी गीत को स्थानीय बोलियों में लोकोक्ति, मुहावरे और कहावते का प्रयोग कर गवाते थे । तो वे लोग उन्मुक्त होकर बहुत ही सहजता से सुन्दर और कर्णप्रिय स्वर लहरी से हृदय और मन मस्तिष्क को आनंदमय कर देते थे। चाहे वह अरूणाचल प्रदेश का सूदूर ग्रामीण इलाका रूपा, टेंगा हों चाहे असम का बकोलिया, धेमा जी। उत्तर प्रदेश का बनारस, कानपुर, जौनपुर हो

या मध्यप्रदेश का कटनी, सतना, भोपाल या उज्जैन या हिमाचल प्रदेश का बिलासपुर। हर जगह मुझे लोक व्यवहार भाषा लोक व्यवहार, बोलचाल, गीत संगीत, नृत्य एवं उनके जीवन में भी वहाँ के भौगोलिक एवं प्राकृतिक वातावरण ही उनपर हावी था। इसलिए मेरा मानना है कि अब लोगों से दूर होते जा रहे नाट्य प्रस्तुतियों एवं नाट्य संगीत में वहां के स्थानीय या फिर हिन्दी के लोकोक्ति, मुहावरे एवं कहावतों का प्रयोग ज्यादा से ज्यादा करना चाहिए ताकि इससे नाट्य प्रस्तुतियों एवं नाट्य संगीत में हास्य व्यंग्य के साथ साथ रोजकता आएगी । और हम आम जन मानस इससे जल्दी से जल्दी जुड़ेगें एवं हमारी नई पीढ़ी विलुप्त होते जा रहे लोकोक्ति, मुहावरे और कहावतों से परिचित हो सकेगी।

समाप्त

विभिन्न जगहो पर आयोजित नाट्य रंग कार्यशालो के चित्र :–

रूपा अरूणाचल प्रदेश, वाराणस, जोनपुर, कानपुर, उत्तर प्रदेश, कटनी, भोपाल, मध्य प्रदेश, विशालपुर, हिमाचल प्रदेश, बेगूसराय, पटना, बिहार में आयोजित नाट्य रंग कार्यशाओं के चित्र।

आभार एवं समार

हषिकेश सुलभ – रंगमंच का जनतंत्र

अंजता पुरी – साक्षात्कार

डा0 सुरेश गौतम – लोक साहित्य अर्थ और व्याप्ति

डा0 भोला नाथ त्रिपाठी – शब्दाकार वृहता हिन्दी लोकोक्ति कोटा

कृष्णदेव उपाध्याय– लोक साहित्य की भूमिका

राजेन्द्र रंजन चतुर्वेदी – लोकवर्ता

डा0 कन्हैयालाल सहल – कहावते एक अध्याय

डा0 ताराकान्त मिश्र – मैथली लोक साहित्य

डा0 सत्येन्द्र – ब्रजलोक साहित्य

सूर्यप्रकाश – लोकोक्ति और मुहावरा

मोहनलाल बाबुलकर – गढवाली लोक साहित्य

शंकर लाल यादव– पाठशाला

हरिवंश राय शर्मा – पाठशाला

प्रो0 गिरीश्वर मिश्रा – पाठशाला

प्रो0 रमेंश गौतम – पाठशाला

मुन्ना पाण्डे – पाठशाला

आनंद वर्धन शर्मा – पाठशाला

अरूण कुमार त्रिपाठी – पाठशाला

कृपाशंकर चौवे – बंगला रंगमंच का इतिहास

कुमार गौरव मिश्रा – पूर्वाचल

दिनकर कुमार – असमिया नाटको को विकास यात्रा

मेधा साठे – मराठी रंगमंच का विकास

नितप्रिया प्रलय– बिहार का लोक नाट्य

निरंजन महावन – छत्तीसगढ के लोक नाटय

हेमंत कुमार उपाध्याय – लोक साहित्य का मर्म

आकांक्षा यादव – लोक साहित्य में स्वाधिन्ता की अनूगूँज

पंकज कुमार –

पूंज कुमार –
लता तिवारी

जगदीशचंद माथुर , परम्पराशील नाट्य, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय नई दिल्ली-

ओमप्रकाश भारती, बिहार के पारंपरिक नाट्य, उत्तर मध्य क्षेत्र सांस्कृतिक केंद्र,
राधाबल्लभ त्रिपाठी, संक्षिप्तनाट्यशास्त्र चतुर्थ आध्याय
दशरथ ओझा, हिंदी नाटक: उदभव और विकास
भारती,ओमप्रकाश,'पूर्वोत्तर के पारंपरिक/लोक नाट्य',

विशेष आभार एवं धन्यवाद :–

संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार

निदेशक सांस्कृतिक स्रोत एवं प्रशिक्षण केन्द्र

चयन समिति के सभी योग्य एवं विद्वान सदस्यगण

गणेश कुमार